॥राधा॥

जानकीवल्लभ शास्त्री॥

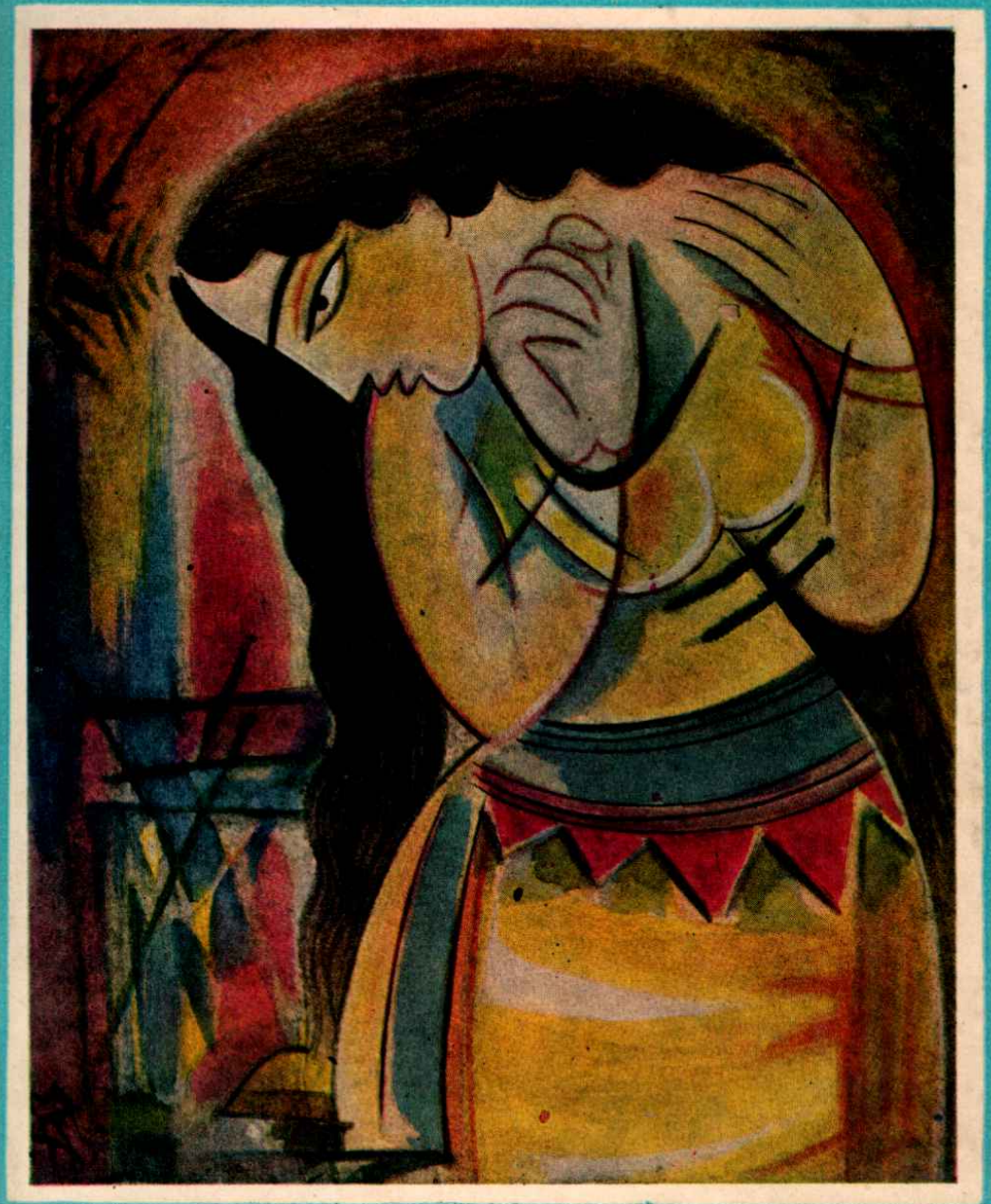

॥ राधा ॥ ॥जानकीवल्लभ शास्त्री॥

स्वस्ति

रूप और सौन्दर्य की मद्धिम आंच में पिघलती गुलाबी चांदनी-सी प्रतिभा लेकर छायावादोत्तर कविता के आकाश पर आज से कई दशक पूर्व महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की स्वप्नमयी राधा ने आकार ग्रहण किया था। 'कामायनी' और 'उर्वशी' की परम्परा को प्रशस्त करनेवाली इस सप्तपर्वा रसवन्ती रचना का यह चतुर्थ सोपान है—'विनोद पर्व'। कल्पना की इन्द्रधनुषी तरंगों पर तैरती जल-हंसिनी-सी राधा अपने सहज वीचि-विलास के द्वारा आज की विविध विसंगतियों एवं विडम्बनाओं से ग्रस्त बुद्धि-विजडित मानव की तटस्थता को अपने काव्य-मानस में सर्वांग-निमज्जन के लिए आमन्त्रित करनेवाली एक ऐसी रसम्भरा रचना है जिसके नूपुरों का कनक-निक्वण निरवधि काल तक सहृदयों के प्राण-प्रदेश को गुंजित करता रहेगा। शास्त्री जी की रम्य-रचयित्री मेधा ने इस प्रांजल कृति में पुरावृत्त की विरस आवृत्ति करने की अपेक्षा मनोमयी राधा की जिस अनवद्य-हृद्य छवि को अपनी अनुभूतिप्रवण-तूलिका से व्याकृत किया है उसकी आशंसा इस पर्व की रूप-जृम्भिता एवं वचन-विदग्धा नायिका रुक्मिणी तक ने की है। रुक्मिणी तथा श्रीकृष्ण के संवादों के माध्यम से जहां उन्होंने नर-नारी के चिरन्तन-सम्मोहन की पुनराख्या की है, वहां उसे साम्प्रतिक यथार्थ के सन्दर्भों के साथ भी बड़ी कलात्मक रीति से गुम्फित कर दिखाया है। रूपंकर सत्य की जो मंगल-मूर्तियां इस रचना में साद्योपान्त विम्बित हुई हैं वे वर्तमान कविता में से छीजती जा रही हैं, निरर्थक शब्दों का ढक्कानाद करते हुए दुर्वह दार्शनिकता की महीन मूसण मलमल बुनने की अपेक्षा कवि ने आत्मा के अनाहत आन्तर-संगीत को ही इस कृति के प्रत्येक छन्द में प्राणान्वित किया है। हमें आशा करनी चाहिए कि शास्त्री जी का यह अर्थगरिम छान्दस् विस्फोट अद्यतनीन काव्याभिरुचियों के मौन को संध्वनित करने में सर्वतोभद्र सफल सिद्ध होगा।

—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

राधा

(४)

1315
(4)

पराग प्रकाशन, दिल्ली-३२

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

राधा

(४)

विनोद-पर्व

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

© आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

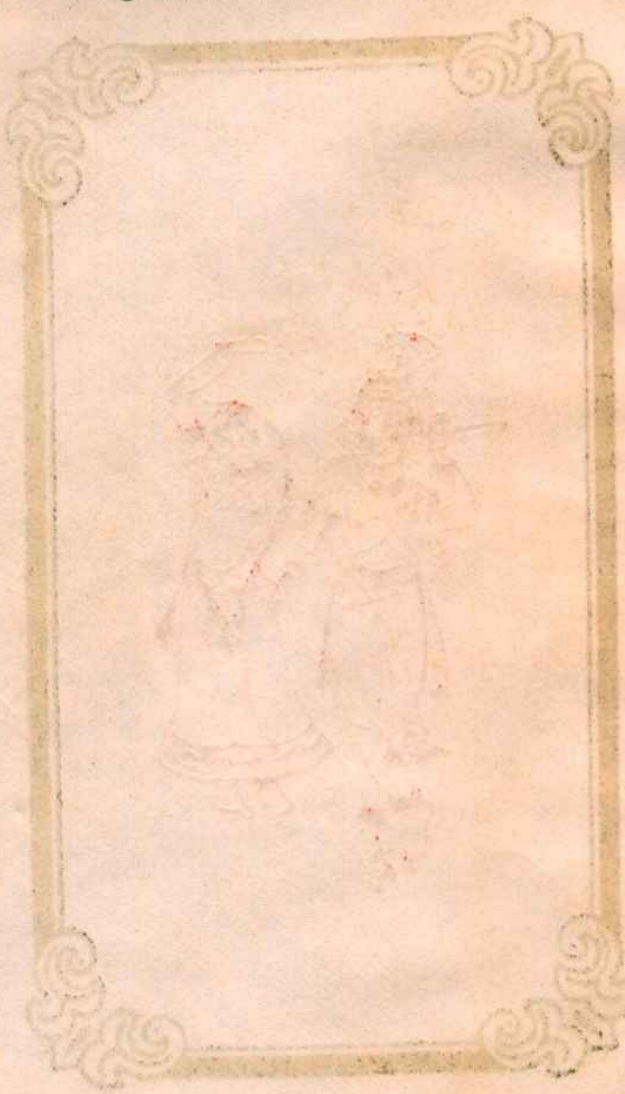

मूल्य : चालीस रुपये / प्रथम संस्करण, १९८८ / आवरण : हरिपाल त्यागी/
प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-११००३२/मुद्रक : कोणार्क प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

RADHA-4 : Acharya Janaki Vallabh Shastri Rs. 40.00

संगिनी छाया को

प्रस्तुति

ऊंचाई ही सबसे बड़ी उपलब्धि होती तो गंगा उत्तुंग शृंग हिमालय की गोद से क्योंकर उतरतीं !

उतर आईं हौले-हौले तो कितने ही दिन उन्हें समतल पर भटकना पड़ा।

समतल भटकाता ही भटकाता है। कभी ऊपर ताकने कहता है, कभी नीचे झांकने।

ऊपर ताको तो भी पांव ठोस भूमि पर रहने चाहिए नहीं तो खड्ड में धसकने का हर घड़ी खतरा बना रहता है। नीचे देखो तो फिर सिर न फिरना चाहिए। क्योंकि पांव भले ही धरती पर अड़े खड़े हों, सिर तो आकाश में ही रहता है।

वे सारी बातें बेसिर-पैर की होती हैं जिनमें धरती और आकाश का सन्तुलन नहीं होता; समान अनुपात नहीं होता। केवल भौतिक मिट्टी का ढूह है; केवल आध्यात्मिक शून्य का अनन्त विस्तार। चन्दन अकेला नहीं महकता।

नदी का समुद्र में नाम-रूप विसर्जित कर देना विलय भी है, विस्तार भी। जाने क्यों, मेरा मन मानता है कि नदी का विलय होता है, समुद्र का विस्तार।

राधा के कृष्ण हो जाने से ही कृष्ण अधिक अगाध हो गये हैं।

दर्शन-पर्व तक की कथा में नदी-किनारे की व्यथा घुली-बही है, विनोद-पर्व से रससिन्धु के अन्तर्मन्थन के हिल्लोल-कल्लोल की ध्वनि-प्रतिध्वनि भी सुनाई दे सकती है। यह केवल दो नगरों या पहाड़ों के फेर-बदल की कोई ऐसी-वैसी घटना नहीं है कि वृन्दा मथुरा नहीं तो द्वारका ही सही ; गोवर्धन नहीं तो रैवतक ही सही। नहीं, वृन्दा-मथुरा की हरी-भरी हलचल नील नदी का ऊर्मि नृत्य है, द्वारका फेनिल सिन्धु के अर्ध लक्ष्य ज्वार-भाटे पिए हुए है। यमुना की लोल हिलोर में मञ्जीर गुंजरित है, सिन्धु की तडित्तरंगों में अस्त्रों का रक्तिम निनाद

भी सुना जा सकता है।

राधा फूलों-लदी कुञ्ज गलियों में अंधेरे-अंधेरे खिंची चली आई थीं, रुक्मिणी लप-लप करती तलवार की नोक पर उठाकर लाई गई हैं।

कृष्ण भी दोनों से एक-से नहीं जुड़े हैं। जहां वह रुक्मिणी के प्रेम-बन्दी वीर हैं, वहां राधा के केवल अलख सखा।

लीला मान लेने पर विसंगति विनोद बन जाती है। उचककर उफान का अभिनय भर किया जा सकता है, यूं छिछलापन छिपाने का वह एक मुग्ध मूढ़ प्रयास ही है। विनोद संवेदनाओं का अच्छोद सर है, होंठों से पहले उसमें नयन खिलते हैं—अरुण कमल के पहले नील कमल।

सुषुप्त स्थिति में अतीन्द्रिय क्षमताएं भी निष्फल हो जाती हैं। ऐसे में विकेन्द्रित वृत्तियों के भंवर में पड़कर चक्कर काटता हुआ जीवन यदि अपने ही अन्तर्द्वन्द्वों से उलझने-सुलझने में खप जाए तो क्या अचरज !

निर्द्वन्द्व जीवन में नाटकीयता नहीं होती। विसंगतियों के विक्षोभ के अभाव में आत्मा की कला न उफने, न उबले तो कोई-सा भी जीवन साहित्य कैसे हो ? यूं तो विचारों का प्रचार कवित्व के अभाव में अधिक वैज्ञानिक प्रभाव छोड़ता है, किन्तु जीवन तभी साहित्य होता है जब उसमें काव्य और नाट्य की अपरिहार्य अन्विति हो। कृष्ण का जीवन ऐसा ही है। निरे विचारों की वैज्ञानिक तुला पर उनका समग्र व्यक्तित्व तोले नहीं तुलता। जन्म से मरण तक काव्य और नाट्य का अव्याहत साहित्य ही उनका जीवन है।

अपनी 'राधा' (काव्यात्मक महाव्याहृति) के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का जीवन ऐसा ही है। ठोस और सपाट कोई नहीं है।

रागात्मकता के ताने-बाने व्यक्तित्व को सुरीला ही बुनते हैं। सिद्ध गायक जानते हैं, राग की रचना में कैसे कभी-कभी विसंवादी स्वरों का भी प्रभावी उपयोग किया जाता है।

सौष्ठव संभाल में ही नहीं, बेसंभाल होने में भी है। रचाव के मुकाबले अनगढ़पन में कहीं अधिक तेजस्विता देखी जाती है। यूं भी नहर निर्झर नहीं है।

भक्ति और प्रेम मूलतः एक ही तत्त्व हैं। अन्तर है एक के हर घड़ी संभले रहने में और दूसरे के अल्हड़पन में। ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम चौकसी चाहता है कि कहीं उसमें ऐहिक वासनाएं पुष्प में कीट की तरह अनदेखे प्रवेश न पा जाएं। प्रेम बहता नीर है, अजस्र नवरस झरता निर्झर। भक्ति नहर है। जीवन के अदम्य प्रवाह को बांधकर, एक अत्यन्त सुनियोजित ढंग से निर्दिष्ट विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख करने का पवित्र प्रयास।

जो घड़ी देखकर खेलते हैं, वे पेशेवर खिलाड़ी हो सकते हैं। जिनका सब कुछ

खेल ही खेल हो, वही कह सकता है :

'जहँ-जहँ चरण धरूँ धरणी पर
जहँ-जहँ निरत करूँ रे।'

सब खेल हो जाए—सुख-दुःख, उत्थान-पतन, पुण्य-पाप, जीवन-मरण—सब खेल ही खेल हो जाए, तब कहीं विनोद बनता है। एक हाथ में सोना, दूजे में मिट्टी। बोले : सोना मिट्टी, मिट्टी सोना। फिर निर्विकार भाव से, हंसते-हंसते दोनों को गंगा में फेंक दे। यह हुआ विनोद।

सतही या घटिया दर्जे के हँसी-ठट्टे का बाजार भी कम गर्म नहीं है। किसी हँसोड़ बने फिरने वाले बकवासी को डपटकर पूछो : जमूरे बेबात की बात पर क्या दाँत निपोरता रहता है। फिर देखो, सिट्टी-पिट्टी गुम, त्यौरियाँ चढ़ी-चढ़ी, हँसी काफूर।

नकली हँसी का इस्तेमाल छिछले ढंग से दिल बहलाने को होता है। विनोद कोई और शय है।

झुग्गी-झोंपड़े को लीप-पोतकर महल के मुकाबले खड़ा करना विनोद नहीं, विद्रोह है। महल ऐसे सजाया जाए कि दूर से झोंपड़ा नजर न आए तो यह विनोद होगा।

गालिब ने अपने दैन्य को विनोद से बहलाया है :

उग रहा है दरो दीवार पे सब्जा गालिब
हम बयाबाँ में है, घर में बहार आई है !

निराला ने हालाहल का स्वाद विनोद के लहजे में बतलाया है :

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
करता व्यतीत था गुन-गुन कर—
सम्पादक के गुण यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

— सरोज स्मृति

इस घास फेंकने में वही अन्तर्गूढ़ व्यंजना है जो 'तृण धरि ओट कहत वैदेही' में है। दशानन के दर्प-दम्भ और स्वयम्भू सम्पादकों की अपनी घनीभूत अज्ञता छिपाने वाली हेकड़ी—दोनों का मूल्य घास के एक तिनके से अधिक नहीं है, दोनों कवियों ने विनोद की वेदना का मर्म अपने-अपने ढंग से उजागर कर दिया है।

यों उक्त अभिव्यक्ति तुलसीदास जी की न होकर वाल्मीकि की ही है :

'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।'

'राधा' का विनोद इस पद्धति से भिन्न प्रकार का है ।

"राधिका कोई न नारी एक
भावना भर हृदयहारी एक
रक्तमज्जा की नहीं वह देह

कृष्ण का नम्र हृदय और नयनजल नीरव ही ढुलक गए हैं। यह विनोद प्राण-प्रदीप को धुएं से भी, भभक से भी बचाता है। यह वही निर्मल नीरव विश्वास है जिसे तर्क-संशय के कोहरे से नहीं ढक पाता; उद्धृत शब्दों का उद्भ्रान्त वात्याचक्र सारी शक्ति लगाकर भी नहीं उड़ा पाता।

विनोद की निष्ठुर लीला राशि-राशि वेदना बरसकर भी निःशेष नहीं होती। नयनजल से हृदय का अन्धकार नहीं उजलता, भीगकर भारी हो जाता है।

एक दिन सुबह-सवेरे रुक्मिणी ने एक सपना देखा कि कृष्ण अचानक उससे मिलने आए हैं और उसे अनमनी देखकर उल्टे पांव लौटे जा रहे हैं।

वन-बाग में वसंत बगरा हुआ है। लौ देते फूलों के दीए सौन्दर्य और प्रणय के देवता की आरती उतार रहे हैं। सुगन्ध की लपटें मन को लपेटती भी हैं, उन्मत्त भी करती हैं। इस घड़ी वह मायके की कुछ भूली-बिसरी बातें कुरेद-कुरेद-कर उन्हीं की अंधेरी गहराइयों में डूबी-खोयी हुई है।

उन्हें यों औचक आया देख संकोच से अपने ही अवयवों में सिमटती-सी अपने पुलक-सिहर-नयन नीर-भरे बेसुधपन की कहानी एक सांस में सुना डालती है।

कृष्ण ने विनोद में कहा कि यह दीप्त अग्नि-शिखा अन्तर में छिपाए रखकर वह व्यर्थ ही सजल सांसें सुलगाती रही है। पिता और भ्राता की इच्छा से यदि उसका शुभ विवाह शिशुपाल से हो भी जाता तो यह कोई घाटे का सौदा नहीं था। वह किसी भी तरह कृष्ण से घटकर नहीं है। और सच पूछो तो अब भी क्या बिगड़ा है, कृष्ण ने उसका उद्धार कर दिया, उसकी इच्छापूर्ति कर दी। अब वह पूरी तरह स्वतन्त्र है, शिशुपाल से या दूसरे किसी कुलीन राजा से जब चाहे तब अपनी रुचि का विवाह रचा सकती है।

रुक्मिणी के प्रेमल मन पर यह विनोद भारी पड़ा। वह रोने-धोने लगी। कृष्ण ने समझाया कि यह सोना पिघलाने वाली स्फुलिंग-पिंगल पावक शिखा नहीं है। मन पर व्यथा का कठोर आघात यह नहीं, स्वर्ण-वीणा के तारों को

विनोदी उंगलियों ने छुआ, छेड़ा भर है।

रुक्मिणी ने पहले तो पुरुष के परुष हृदय पर आश्चर्यित होकर कटाक्ष किया, फिर कोयल के पञ्चम स्वर को तीसरे सप्तक से दुहराया कि कृष्ण के जैसे घूंघट वाले बाल और रसीली आंखें हैं, उन्हें स्त्री-हृदय की परख प्राप्त करने के लिए भी तपस्या करनी चाहिए। तभी वह समझ सकेंगे कि उनका विनोद कैसा नुकीला व्यंग्य और धारदार वाक्-प्रहार है। रंगीन उपमाएं बौखलाहट ढके रहीं।

थोड़ी-सी आंकी-बांकी चाल दिखाकर दाम्पत्य-रसधारा शान्ति के मुहाने पर पहुँच गई।

सपना आगे बढ़ा। कृष्ण सायंकालीन सह-विहार के लिए रुक्मिणी को आमंत्रित कर अपने सौध-शिखर पर चले गए।

बेला ढलते ही रुक्मिणी सज-धजकर कृष्ण के सौध प्रकोष्ठ में पहुँच गई। वहाँ जो देखा उससे उनकी टकटकी बँधी की बँधी रह गई। कृष्ण अत्यन्त उदास उन्मन-से अधखुले वातायन से वियद्वैदूर्य सूर्य को निष्प्रभ होते देख रहे थे।

रुक्मिणी ने छेड़ा : यह कैसा बाना बनाए बैठे हुए हैं आप ? प्रतिश्रुति स्मृति-पथ पार कर गई ?

कृष्ण ने कहा : ऐसी कोई बात नहीं। जाने क्यों आज अचानक उन्हें बचपन की याद आ गई। ब्रजभूमि, नन्द-यशोदा, यमुना के कगार-कछार, वंशीवट, ग्वाल-बालों के संग कुञ्ज-निकुञ्जों में गोचारण, गोपियों का अनन्य अनुराग, सबका सामूहिक स्वाद विरस मन पर तीखा प्रभाव छोड़ गया। अन्तर का बन्द चन्दन-कपाट अपनी ही सुगन्ध के दबाव से खुल गया। सौरभ की कस्तूरी परतें जमती ही चली गईं।

रुक्मिणी ने लक्ष्य किया, यह उनके प्रभात का जिस व्यवहार का विनोदी प्रतिवचन मात्र नहीं है, सो उसकी आंखें सजल शून्य में बही-बही फिरीं। गोपी-प्रेम का प्रसंग आया। राधा का वर्णन करते वाणी न थकी। तो जैसे नील झील में पछवा हवा का झोंका लघु-लघु लहरें उठाता निकल गया। उस व्यग्रता को छिपा पाना ऊँची सांसों के लिए संभव न हुआ। उन्हें अपनी सामर्थ्य की सीमा का स्पष्ट आभास मिल गया। पिछले आभास ने अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा दुहराई कि बस, अब रस-प्रसंग समाप्त हो। उन्हें अपनी आत्मा का अंधियारा दिख गया। लीपा-पोती की जरूरत नहीं, वह अभी-अभी लौटी जाती हैं।

कृष्ण की सतृष्ण दृष्टि से तब एक अजब-सी किरण फूटी : कहती क्या हो ! यह सामरिक वेशभूषा-सी सुसज्जित आकृति, बचपन से ही जुझारू और दबंग प्रकृति, अरे, तुम्हें तो पुरुष होना था। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, तप करो कुछ

दिन मुक्त पुरुष की अनन्त अन्तर्ध्वनियों के झरने में हरसिंगार की तरह झरने के लिए। आनन्द अपना स्वरूप है, मुक्त पुरुष उन्मुक्त हंसी हंसता और विनोद-भरी बातें बोलता है :

'राधिका कोई न नारी एक।'

प्रवास
आयुर्विज्ञान संस्थान
नई दिल्ली

जानकीवल्लभ शास्त्री

मंगलम्

राधा गान्धार-धाम-श्रुति—नुतिभिरहो
यन्महो नाध्यगच्छत्
नावापद्वा प्रवातैर्बहलपरिमलैः
क्षालनादच्छलक्ष्मीम् ।
कालिन्द्याः कृष्णतृष्णं तटनिकट-
तमस्तोम-संक्रान्तकायं
विच्छायं स्वार्थसार्थैं विमलयतु मन
स्तज्जलं कज्जलं मे ।

श्री, सुरभि, मधु, स्वर्ण-वर्ण प्रकाश—
झर, हुआ पतझर-सदृश आकाश !

स्फुट अनारकली, विकच कचनार !
आज तरुणाई धरा-शृंगार !

मञ्जरी-पिञ्जरित साल रसाल,
गन्ध-राग-पराग-पिंग प्रियाल !

स्वप्न-प्रतिकृति प्रकृति का परिधान,
लाल-लाल अशोक नव अवदान !

एकरस सह स्वर्ग-वास उदास,
ऊब उतरा दूब पर मधुमास !

नयनतारे क्या निहारें अन्ध ?
वह उड़े स्वच्छन्द, जो हो गन्ध !

धारणा का कब किया अभ्यास !
खोखला है, छलकता आकाश !

नील प्रज्ञा का डँसा-सा हास !
शून्य है, नभ को न सुख-दुख त्रास !

भूमि नीचे ठोस, ऊँचे रिक्त !
क्यों जलाये जी कि सिर चिर-सिक्त !

घर धरा, नभ में धरा क्या आज ?
फूलवन बन गया उड़ुगन-राज !

दीखते तारे न दिन में और,
मन्द मधुमद सिर चढ़ा बन बौर !

झूम में ज्यों पाँव छूकर छाँह
कसमसा अँगराइयों में बाँह—

काँप आपे में न रहती आप !
यह कि तर्कातीत तत्त्वालाप !

भूमि को ऊँचे उठाता खींच !
सिर झुकाए है गगन दृग मींच ! !

नित प्रदोष उड़ेल विधु-मधु-कोष
प्रात-वात बिखेर मोती, ओस—
कुसुमतन को है सजाता मुग्ध,
रवि-किरण हँस डालती गो-दुग्ध,
जो प्रकाश न दे सका अवकाश
प्राणपुट में आज उसका भास !

कह रही ज्यों प्रकृति : आओ पास,
ओ अकेले मन, उदास-उदास !

फूल की घाटी कि माटी फूल
एक पल को फल-भुलावा भूल
सिमट आओ हरितिमा में नील
ढूँढ़ता क्यों हंस मानस झील !

विहग कुल कलरव, विमल जल स्रोत,
श्रुति कुहर में सजग स्मृति-खद्योत !

कमलदल की उमह महकी सेज,
साँस गुँथ उच्छ्वास करती तेज !

ऊल पवन-तरंग पर झुक झूल—
अंक लगते, डंक ढकते फूल !

और प्यास कि और सरको पास,
भर सुमन मन में समग्र सुवास !

धूप ऊपर उत्तरीय अनूप,
छाँह शिथिल थकी पड़ी, क्या रूप !

वयस पर जाओ न रहस बसन्त !
शुद्ध आत्मा तुम अनादि, अनन्त !

क्यों कुँई की पाँखुरी री म्लान ?
अधर से झरते न मधुमय प्राण ?

भर लिया घर काट पैदावार ?
तन हुआ न गुलाब, मन रतनार ?

लाभ के लोभी, ललक की भूल,
फिर रहे फूले अपंग बबूल !

आज पी ऋतुराज का उन्माद
रुक्मिणी का था कसा प्रासाद

मधुप अन्तःस्वन कि चुप थे फूल
गन्ध-लहर डुबो रही थी कूल

चहक चटक, कपोत-पोत किलोल
स्वर अमर भरते गरल-बल तोल !

'निर्विवेक निपट नहीं तारुण्य,
मानवीय व्यथा-कथा भी गुण्य !'

—प्रकट करता निष्कपट यह भाव
था न कलरवमात्र विहग-विराव !

स्वस्थ शाश्वत, आधुनिकता रुग्ण—
थी निषिद्ध यहाँ त्वरा आभुग्न !

उच्च जीवन मरण निश्चित ध्येय,
कीर्ति साध्वी, सुधा माध्वी पेय !

दीर्घ जीवन——दूर का आह्वान !
स्वर अचीन्हे गुनगुनाते प्राण !!

थे वितान तने अनेक अनूप
मोतियों की झालरों के स्तूप !

रत्नदीप उजालते थे कक्ष,
दृप्त था व्यक्तित्व सूर्य्य-समक्ष !

छेड़ती-सी अनिल-लोल हिलोर
लौ लगी ऐसी कि लौ की कोर—

काँपती भी थी नहीं, निर्दोष
दृष्टि-सी छवि का लुटाती कोष !

मल्लिका मधुमाधवी के कुञ्ज
रूप में शैशव कि परिमल पुञ्ज !
कहाँ आ बीता समय, था बोध ?
पारदर्शी मन, न काम, न क्रोध ?
रिपु नहीं कोई कि ले प्रतिशोध !
रस-ग्रहण के योग्य स्वस्थ, अबोध,
सब किसी से मुक्ति का सम्बन्ध,
हो त्वरा क्यों तोड़ने की बन्ध ?

कुञ्ज ऐसे तो न लाख करोर,
अलख लख ले क्यों न प्राण अँकोर ?

ऊब और थकान वाले काम
सहज हों, प्रेरक बने विश्राम ।

ऋतु पिलाए प्राण को चैतन्य,
हो विकास प्रबुद्ध, मत हो वन्य !

मत्तमत हो मन कि मत आनन्द—
बिसर जाए गत-विगत के छन्द !
फूल भूले मत सुगन्धित साँस,
न हो पावन-पवन, गगन-निवास !

स्वस्थ गिरि, अश्वत्थ बरगद पास !
पाँव के नीचे बिछी हो घास !

अगरुगन्ध गवाक्ष के उस पार
फैल गैल बना रही पुर-द्वार !
अंग-रंग, सुहाग-जागे नैन
बात की क्या बात, कोकिल बैन !

काठ मार गया, खुले न किवाड़,
डाल बाल रसाल की ले आड़ !

विकच बौरों की लदे आमोद;
भृंग-शृंगी-स्तवक-सज्जित गोद !

ली उठा ज्यों दृष्टि ने मधु-वृष्टि !
सिमट आई एक तिल में सृष्टि !

जड़, भड़क लपकी प्रणय की ज्वाल,
अर्द्ध शीतल, अर्द्ध दाहक काल !

कृष्ण बैठे रुक्मिणी के पास,
कृष्ण मृग ज्यों विकल मृगमद-बास !

गांग-वारि कलिन्दजा-कीलाल,
अंग चम्पक संग बाल तमाल !

प्रभामण्डल से प्रदीप्त प्रकाम,
अचल-विद्युद्वलय-वृत घन श्याम !

मार-मारक सौम्य सुषमा-स्रोत
सर्व-सम्मोहक कलानिधि-द्योत !

दृष्टि में विधु की विधा, मधु-पाक,
वचन सुन रसनासना निर्वाक्

न ठंडक ऐसी मृगांक-मयूख
बरस सकता हार्द रस पीयूष !

किन्तु अन्तर रुक्मिणी का क्लान्त—
हो न पाया सहज, कोमल, कान्त !

कृष्ण का पा परस रस-पर-पार,
टुक न छलका, न था हल्का प्यार !

गुदगुदी न लगी चिबुक में नेक
तान तानी कृष्ण ने, क्या टेक ?

फिर स्वगत सोचा : अचानक आज
उबल आया जी, हँसी निर्व्याज—

मुझे ले आयी कहाँ कि विनोद
सह सकेगी यह ? रही नख खोद !

कौन मौन शिला पिलाती धूप !
प्रश्न रेखांकित, निरुत्तर रूप।

दृष्टि माल्य पहन पलातक स्तब्ध,
स्मित कि चन्दन चाँदनी से दग्ध !

मेघ-मण्डल में फँसा-सा चाँद
रन्ध्र ढूँढ़ रुका थका रो-काँद !

गगन-गंगा से छिटक तट पास
तैरता तारक, नहीं हिम-हास !

कल्पना दिग्भ्रान्त, डूबा पाट !
गई पथरा साँस औघट घाट !

स्वप्न-मुख सुख में विमुख को बोर
यह रहेगी विसुध, विकल, विभोर ?

गुप्त, प्रकट प्रगल्भ, उठता प्रेम—
जल गया ? क्या था न शोधित हेम ?

और ठंडी आग लौ देगी न,
बीतने पर ऋतु सकेगी जी न !

ज्वलित कनक कि ललित रंग-तरंग !
ज्ञान-दीपक का अनंग पतंग !

जन्म-कलि को अलि-मलिन उपहार—
दे अमर होता मरण निःसार !

ज्वाल-माल पहन गहनतम बुद्धि...
चाहती है तीर्थ-जल-सी शुद्धि !

अंगराग कि आग मलता अर्क ;
चन्द्रमा को चाहिए क्या तर्क !

सुरसरित गुम्फित-ग्रथित आवर्त,
यह अमुद्र समुद्र,—दुर्गम गर्त !

विफल जल ज्वाला हुई ज्यों क्षार ;
मोह-भंग : पड़ाव-भूला प्यार !

स्वल्प-शेषा-सी निशा में जाग
श्रोत्र-करुण विरात्र छेड़े राग !

डूबता ज्यों देख निशि-सुख सोम
किरण की छिगुनी उठाता व्योम !

सोख पोखर रौंद कमल-मृणाल
भूल बैठी तूलि गज की चाल !

फल-अफल-निःस्पृह खिला कंकोल
गया भूल मलय-निलय-जयदोल !

शोध कण्टक बोर दृग की कोर
भर रही-सी रिक्तता में लोर !

पूर्व के उत्सव अपूर्व, परन्तु—
विजन मन वन, श्वास उलझे तन्तु !

खोल अक्षि-गवाक्ष ज्यों उड्डीन
सपन पारावत गगन घन लीन !

नय प्रणय, प्रतिबिम्ब का पर्य्याय,
दुःखदायक सुख विनायक-दाय !

कृष्ण की तृष्णा, चमकते नेत्र !
श्रवण चुगते उमग कर स्वर-क्षेत्र !

तरुणिमा हठ माँगती क्षण स्वर्ण,
छहरते कि अधर प्रपाणक वर्ण !

चित्र-हीन कपोल-फलक विलोल
लहर लेता शब्द-सिन्धु अबोल !

देखते गिरि पर हुआ हिमपात;
और उज्ज्वल शिशिर-किरण-प्रभात !

अनढकी हल्की फिसलती साँस,
खोजता खोया हुआ सुर बाँस !

ऐन्द्रजालिक छुअन का संयोग,—
नाव डोले ! पाल खोले लोग !

क्षण उड़न छू, मन समीरण क्लान्त,
सुख सविस्मय, दुख-मुखर एकान्त !

क्या धरा है राग में कि विराग—
रुद्र - ताल - निबद्ध भैरव-राग

हो वसन्त अनन्त-रूप-निधान !
युक्त मन को मुक्त का क्या ध्यान !!

दोष-गुण-चिन्तन स्व-पर का त्याग—
जल गया चन्दन कि भागे नाग !

निम्ब-चम्पक वृक्ष खिल कर साथ—
यों खड़े ज्यों हों मिलाए हाथ !

नागकेसर झर रहे मकरन्द,
मुक्त गन्ध कि सुमन-मन में बन्द !

मल्लिका - कलिका - कलित - कल्हार
रेणुओं में ढालता मधु - धार !

संग - संग विहंग - भृंग - विहार
क्या यही ऋतुराज की जयकार ?

मणि-रणित सोपान पद्म-तड़ाग
गन्धमादन रंग - छादन बाग !

किन्तु अन्तर्मन अनाहत व्योम
झनझना पाते नहीं रवि-सोम !

नयन में घन, पर न श्वेत न श्याम,
चाँदनी में पी गए-से घाम !

श्याम मन के भाव अति अवदात
रही सरसों फूल प्रति दृक्पात !

सोचते जाते कि बादल व्यंग !
इन्द्र धनु के रंग कितने रंग !!

झपट तार उतार ले तो बीन—
बेसुरी भरती सिसकियाँ दीन !

प्यार कह दे जो बजाकर ढोल,
मौन का फिर कौन आँके मोल !

घर जला निकला ठगा-सा फाग,
रंग डाला था; लगी क्यों आग !

हुआ हिरन नशा, किरण का प्रात—
धुँधलके में ज्यों खिला जलजात !

नयन-शुक ने दिया पिंजड़ा तोड़
न थी उड़ने की कभी की होड़ !

रंग सातों इन्द्रधनु-शृंगार
लगे धुलने, बही मलय-बयार ?

पाँव लहरों में कि ठहरें आज,
निकल जाने दो उन्हें रज माँज !

गगन झुकता जो न मृग-दृग आँज
चाँद का क्या रूप बनता आज !

मुँह चिढ़ाना मत विटंककपोत,
रहसना उमड़ा अतल का स्रोत !

सोचते थे कृष्ण : तृष्णा व्यर्थ
अर्थ जीवन का न मरण निरर्थ !

क्या सिसकियाँ, क्या तड़प, सब झोल,
हो न थिर, अस्तित्व डावाँडोल !

गीत का वैभव उजाले जोत
ध्वनि प्रतिध्वनि लौट आयी न्योत—

एक सन्नाटा, महिम-हिमखण्ड,
घोंसला पाला—प्रणय-नय—दण्ड,—

उजड़ता दिखता, प्रभञ्जन-भग्न,—
अपरिचय की दृष्टि से संलग्न !

मुकुल-संकुल वकुल-तिलक-निकुञ्ज
है उजाले डाल ज्योतिःपुञ्ज !

नाम ले-ले कर जगे ज्यों फूल,
पाँखुरी चटकी, उड़ा स्मित-तूल !

कह किसी की रह गए मुँह खोल
जल उठे सौ-सौ दिये द्युति-दोल !

किधर से आयी, गयी किस ओर,
रँगी गन्ध कि ठगी कोरी कोर !

पीर के साथी छिपे गम्भीर,
हैं चहकते यहाँ कोकिल-कीर !

वेदना—उल्लास, आँसू—हास
डालते डोरे, पलाश उदास !

दिन मिलन का, रात बिछुड़न की न,
सदानन्द सुगन्ध द्वन्द्व-विहीन !

जो कही न गई, वही यह बात,
छेदता काँटा गुलाबी गात !

बन्द मन, नीरन्ध्र, थिर थी साँस,
किधर से आया यहाँ मधुमास !

नोक तिनके की तजेगी जोंक ?
नोक-झोंक-मगन सुमन में भोंक—

एक साथ सहस्र सुइयाँ, दृश्य—
थे जलाते : क्या यहाँ अस्पृश्य !

जल-भरे घट में उतर आलोक—
काँपता हो पवन से निःशोक,—

कृष्ण-मन चञ्चल उसी विधि आज
अन्यथा क्या हिम, शिशिर, ऋतुराज !

छिटकते प्रत्यंग से सौ रंग--
नित्य जिसके, दृश्य उसके ढंग !

पद्मिनी निज कण्टकों से बिद्ध,
भ्रम रहे भ्रम भर भ्रमर रस-सिद्ध !

सौकुमार्य्य-सुरभि, कुसुम - कौमार्य्य,
बिछलती अनुगूँज ज्यों आहार्य्य !

नयन अनिमिष पुष्पवन के भीत
सहम रुक, थम, जा रहा ज्यों शीत !

तीक्ष्ण किरणों के उदय से त्रस्त—
चन्द्रमा ज्यों राहु से हो ग्रस्त !

वृक्ष, लतिका, गुल्म दिन को साँझ
हैं बनाते; झिल्लियों की झाँझ—

है झनकती, वाटिका दुर्दर्श
पवन को देती गहन का स्पर्श !

वृन्त-लम्बित कुन्त-कुञ्चित पर्ण
दूर से दिखते विवर्ण सुपर्ण !

ज्योतिरिंगण चन्द्र-सूर्य्य-समान
मान पाते तम-प्रियातिथि जान !

यही सब होता, वसन्त दिगन्त—
कँपाता आता न, यौवन सन्त—

स्वेच्छया ही भोगता वन-वास !
हिम महिम छिप छोड़ता उच्छ्वास !!

नाव फूलों की बहा विपरीत—
गन्ध का निर्गन्ध गाता गीत—

छानता मकरन्द-बिन्दु ललाम
तरुण अलियों से घिरा अविराम,

ढूँढ़ता विश्राम, ले पिक-नाम,
क्यों यहाँ आया वसन्त अकाम !

रुक्मिणी ज्यों रुक्म-प्रतिमा एक !
तान द्रुत कर पूर्ण मन्द्रिल टेक !!

तारिका नीहारिका में मग्न,
विटप से ज्यों ललित लतिका भग्न !

अर्चि-हीन कृशानु, भानु निरस्त,—
सर्वतोमुख स्वप्न-घन में अस्त !

सत्य हृदयंगम, कि कोई बोल
प्राण को मानक-तुला पर तोल—

दे न पाया ज्यों उचित सम्मान !
व्यूह काया, आत्म-अनुसन्धान ! !

कोटि-कुण्ठित उठ रहीं पलकें न,
छिन गई मणि, फणि कहीं अलकें न !

जल प्रपात पलट गया पा रोध,
चपल ने ठुकरा दिया अनुरोध !

पद्म-सद्म न गन्धवह से लोल !
दृग मुँदे, निष्फल किरण-कल्लोल !!

अव्यवस्थित चित, न चितवन शान्त,
अल्प पल का यह रहा कल्पान्त !

शक्ति वासव-तुल्य, रक्ति अतुल्य,
युक्त चित्त, विकल्प का बाहुल्य !

बार-बार निहार उपवन-बाग
घृत मरन्द पड़ा कि आग पराग !

कृष्ण योगेश्वर, न यह संयोग !
ढूँढ़ती हैं वृत्तियाँ भव-भोग !!

न यह परिभव या शिथिल सम्मान,
उर सुरीला रच रहा नव गान !

चेतना अनवस्थ, संवृत भाव,
हुए परिवर्तित, बढ़ा तव चाव !

एक पल का प्रलय, लय-निर्माण
टेक में सिमटी कि द्रुत की तान !

चारु कुण्डल, वदन सुषमा-स्रोत
मधुर बिम्बाधर, दशन की जोत,

तज विशंका निरख मृग-दृग कोर,
रुक्मिणी से पूछते चितचोर :

—आज पतझर की उदासी देख
ओस-भीगा फूल बासी देख

मन रहा मेरा अतल अवगाह,
रुक्मिणी, क्या चाह ? क्यों दिग्दाह ?

उँगलियों की ग्रन्थि-मुद्रा तोड़
विहँस बोली रुक्मिणी कर जोड़ :

आपको पा कर पुनः है चाह !
आप सम्मुख हों, करूँ मैं आह !

—यह असम्भव, यह असम्भव नाथ,
श्री पदों में नित विनत सिर-माथ !

दिव्य, अव्यय, प्रणय-पञ्चम-ग्राम
नाम जिसका नील-नीरद-श्याम !

रूप-उपवन के प्रफुल्ल कदम्ब,
भुज प्रलम्ब, प्रपन्न के अवलम्ब !

विषम मग में डगमगाते पाँव
माँगते थक हरित जिसकी छाँव

नियति का सौजन्य - जन्य प्रसाद
स्मित-अमृत जिसके अधर का स्वाद

पर्व हो तो गगन हो शुचि-गात,
स्मिति कि जिसकी रात ज्योत्स्ना-स्नात !

सिन्धु के अन्तःकरण की आग
रैवतक तकता रहा अनुराग !

मोह प्राणों का न मन की प्रीति—
है छिपा पाता, हँसे जग-रीति !

बहुरता अवसर न जीवन-बीच,
लोक से लीं तभी आँखें मींच !

शरण में आयी, चरण की छाँह,
आपने बढ़कर गही थी बाँह

उष्ण स्वेद-रसार्द्र करतल शिष्ट
गए आँक अवाच्य कुछ परिशिष्ट—

भाव के, झेली चमेली-गन्ध,
उँगलियाँ पिघलीं, शिथिल मणिबन्ध !

साधता स्वर सिन्धु दूर-सुदूर
शून्य मन में मौन भर भरपूर

कुछ लहरियों में गुँथे, कुछ टूट—
बिखर जाते अनछुए ही फूट !

शिशिर-शीकर छहर परस प्रसून
जन्म-मरण कि सकल सुख-दुख न्यून—

कर, सुभासित हुए ध्रुव नक्षत्र,
तरणि मेरी अब बहे सर्वत्र !

पहुँच निर्णय पर हुई-सी रंक
शून्य निज में मेट सारे अंक !

कुछ कहा था आपने स्वर मोड़,
शब्द भी क्या, अक्षरों के जोड़ !

ध्वनि न थी वह, विकल स्वर का पाश—
कस रहा था कण्ठ, घुटता हास !

धमनियों का रुधिर हाथों-हाथ
थीं उलीच रही शिराएँ साथ !

मन मतंग मलंग-सा निर्बन्ध
ढूँढ़ता गह्वर-गुफा था अन्ध !

था दृगों में नृत्य करता रूप,
बन्द मन में छन्द-निरत अरूप !

यह अचिन्त्य, अतुल्य, अद्‌भुत तत्त्व
क्या यही अनुराग ? निर्मल सत्त्व ?

था यही जीवन-मरण के द्वार—
कभी औंधे मुँह पड़ा अविकार ?

मरण सक्रिय था कि जीवन मुक्त,
प्राण विह्वल, थे उभय संयुक्त !

था विविक्त विचार ? क्वाँरी प्रीति ?
स्वर-सरित में हंस-किंकिणि गीति ?

बावरी-सी हो रही थी बुद्धि,
विसुध आत्मा थी सँजोती शुद्धि !

सप्त-जन्म-प्रतप्त शीतल प्यास,
आँख सूजी; किन्तु पूजी आस !

झरा झर आलोक-गिरि अवलोक,
मृत्यु मेटेगी ? न थे दुख-शोक !

पत्र-पुष्प-भरे हरे तरु-हर्ष,
शून्य के ऊपर उठा उत्कर्ष !

तूल-सा हल्का हुआ उर-भार,
दृग-अमिय का उमड़ आया ज्वार !

प्राण में भर-कर यमन-कल्याण
द्रुत-विलम्बित श्वास का विज्ञान—
सहज सिखलाया, जिऊँ स्वर तान :
क्यों मरण-सा मौन ? जीवन गान !

पथ मनोरथ को मिला दुर्वार,
खर्व पर्वत, रेणु पारावार !

हैं निसर्ग-सुहृद कि वत्सल आप,
शील-रूप-निधान, ज्ञान अमाप !

लालसा अब फटक सकती पास ?
कृष्णसार ! न और सुमन-सुबास !!

आज जाने क्यों बहुत दिन बाद
आ रही थी मातृकुल की याद !

एक दिन थी गूँथती निष्काम—
मालिका शेफालिका की; काम—

सदन के निबटा मदनिका मत्त
(बात का कि निकालती-सी सत्त !)

किधर से भी फट पड़ी उद्यान;
निपुण गुम्फन में लगा था ध्यान,

पा सकी आहट न, तद्गत-प्राण—
गन्ध का आनन्द छन्द अजान !

प्रखर स्वर बोली मुखर शर तान—
चमत्कार ! सुमन-सुमन का ज्ञान—

और यह ऐसा किसे सुकुमार ?
मलिन जिससे मोतियों का हार !

—गई बैठ सिमट-सिकुड़कर पास,
विहँस बोली : "हो न और उदास !

पहन यह मृदु-कर-कलित वरमाल्य
छीन ले शिशुपाल पोषित बाल्य !"

कांस्यताल कि नाम सुन शिशुपाल—
डगमगाई मैं, सकी न सँभाल—

बुद्धि का विक्षोभ, कम्पित गात,
शत तरंगों का अतट आघात !

नोक पैनी, चुभी सूचि समस्त,
रंगा करतल, नभ हुआ संन्यस्त !

सोच में मैं पड़ गई निरुपाय—
"क्यों स्त्रियाँ ही हाय यों असहाय !

मर्म में उतरे, तरे कि विभोर,
किन्तु दृग में छलछलाए लोर !

उगा राका का न बाँका चाँद,
गगन निर्जन में मरे घन काँद !

अन्तरंग तरंग से भरपूर,
पुलिन से हो मलिन शीकर दूर !

गहन में कुहके; थके, चुक जाय,
स्वन श्रवण में भटक कर रुक जाय !

श्वास···लोलित उष्ण-शोणित प्राण
मौन से माँगे दुहाई, त्राण !

वेल रूखी हो कि सूखी, ठीक,
लहलही क्यों ? हो न लीक अलीक !

रहस रीझे, विहँस खीझे आप,
निष्कपट उर प्रकट करना पाप !

छिड़क मरु में मरुत, मदिर मरन्द,
सुमन-मन रीता रहे मतिमन्द !

बोल या मन तोलने का ढंग—
तीक्ष्ण बाण कि शाण था प्रत्यंग !

सूख कर सुरसरि हुई ज्यों रेत,
गोष्ठ शाद्वल हल-चलाया खेत !

तट-निकट हिम-सा जमा नीहार—
गया कट-छँट, बन गया मझधार !

फूल फैले लहक बादल लाल,
चाल में जल की छिपी थी चाल—
ज्वाल की, बगुले रहे थे घूम;
न मछली उछली, मची क्यों धूम

बाँध तोड़ दिए कछार उछाल,
मैं विसुध-सी बह गई तत्काल !

कौन नापे मौन काले कोस
मैं रही बहती निपट निर्दोष !

नासिका में भर नशीली वास
साँस को था तोड़ता संत्रास !

आपकी स्मृति झट बढ़ा कर हाथ
डूबती को खींच लायी साथ !

बालुका उतरा गई जल-बीच,
मैं निकल आई बचाकर कीच !"

कृष्ण ने छेड़ा कि कदली-पात—
एक से दूजी निकलती बात !

मनन में डूबा कि ऊबा चित्त ?
विकृत-सा लगता तुम्हारा पित्त !

शून्य के आए निकल ज्यों शृंग !
केतकी में भटकता-सा भृंग !!

छाँह में हो सो गया आलोक !
स्वर्ग-सुख-हित मुक्ति करती शोक !

अपत पतझर ने दिए भर फूल,
डूबने को नाव ढूँढ़े कूल !

चील मँडलाए कि तीखी धूप !
ताड़ पर उगते न वापी-कूप !!

धो रहा ज्यों नीलिमा आकाश,
चाँद-सूरज का असह उपहास !

निर्निमेष मृषा, निमीलित सत्य
सरल निर्ममता, विरल सातत्य !

अधखुली, अधमुँदी अन्तर्दृष्टि
कल्प का संकल्प सिरजे सृष्टि !

रुक्मिणी फूटी, न छूटी बान—
फेरने की बात, बात-समान—

हो व्यथा का सत्य, पीर गंभीर—
(कह रहा भगवत्कथा ज्यों कीर !)

हैं उड़ा देते हँसी में आप,
हारता नीहार—रवि-कर-चाप !

रो रही चकवी नदी के पार—
इस किनारे ज्योति-ज्योत्स्ना ज्वार !

सुधि-सुधा पी हृदय डावाँडोल,
चषक में किसने दिया विष घोल !

पुरुष-पक्षी आपका व्यवहार
विसंवादी स्वर चढ़ाव-उतार !

स्तब्ध बन, विहगी लगाती टेर—
बिद्ध मन को मत अहेरी, हेर !

विरस तरु धर अनल-अनिल-विहार
वल्लरी विह्वल निहार-निहार !

नर पिता, नरवर सहोदर भ्रात,
नर-प्रवर सुत, अमर पुरखे सात !

प्रणत नारी, पुरुष-मण्डल सौर,
ग्राम्य निर्णय, न्याय-नायक पौर !

रहें चौकस सहस दक्षिण-वाम
दासता का स्वामिनी हो नाम !

आर्य्य मन, कौमार्य्य-रक्षक तात !
जानता क्या श्याम, क्या अवदात ?

हो न पति तारुण्य का शत-शंक
ढूँढ़ पंकज में परखता पंक ?

स्थविर होकर भी न विश्वसनीय
दीन तनयाधीन वय दयनीय !

हाय रे नारीत्व ! सीधी दृष्टि—
न तुझ पर पड़ती, पुरुष की सृष्टि !

हो न आत्मा, हो न निज-अभिमान,
है वही नारी, यही प्रविधान !

चार, परिचारक विचारें तत्त्व
रह निरुत्तर सब सहे वह सत्त्व !

नाम सीता हो कि गीताचार,
सरलता ही सोलहों शृंगार,

नियति नारी की अहैतुक प्रीति,
दे विहँस वन-वास नरवर-नीति !

मूलधन जकड़ा पड़ा निर्व्याज
माँगता है चक्रव्याज समाज !

वस्तु प्रस्तुत शुद्ध हो कि अशुद्ध,
दो अवान्तर प्रचुर, मत हो क्रुद्ध !

ठान ले हठ, शठ न होगा नम्र,
टूटकर कुत्सित न होगा कम्र !

वक्तृ से नर नक्र के मणि खींच,
ले मरुस्थल अश्रु-जल से सींच

मौलि-माला सविष हो भी साँप;
पर निरख नर-हृदय जाता काँप !

क्यों नहीं देता हमें अधिकार—
उचित-अनुचित का कि सोच-विचार—

हम स्वयं रुचि का करें सम्मान ?
आम-इमली की सही पहचान ?

वह नहीं आचार, अत्याचार !
कि अनचाहे को करें हम प्यार !!

प्रणय परिणय का प्रथम सोपान
पूर्वराग अपूर्व अभ्युत्थान !

फिर उसी का, फिर उसी का ध्यान,
स्वजन-परिजन में उसी का गान !

दीन नारी स्वाधिकार-विहीन,
अजल जीवन छटपटाता मीन !

भरी सरसी आँसुओं की आँख,
भरे फड़कन विकल गीली पाँख !

ले भले शिशुपाल सौ शिशु पाल,
हृदय नारी का सका न उछाल !

लहर-लहर उबल रहा है अब्धि
अतलता शीतल नहीं उपलब्धि !

पुष्पिताग्रा नत लता झकझोर
ले प्रभञ्जन फूल-पात बटोर;

छूट कर तरु के शिखर से फूल
गन्ध-अन्ध करें धरा की धूल,

धूम-राजि-विराजिता भी ज्वाल
रंग सौ अंगार पर दे ढाल

दशन-वसन बनें फड़कते होंठ
हो कभी आदी, कभी हो सोंठ

हार धार कि पहनकर केयूर
मान ले, जीवन यही भरपूर !

घुटन क्यों, वन में रुदन की छूट
राम-नाम लुटा रहा नर, लूट !

सत्यकाम कहाँ ? कहाँ प्रह्लाद ?
विरह नारी का असह आह्लाद !

कृष्ण बोले : बात यह क्या गूढ़ ?
तुम समझती हो मुझे भी मूढ़ !

चाँद अपने को तिमिर का पाश—
समझ ले, यह किरण का उपहास ?

सिर-चढ़ा मणियों-मढ़ा यह नाग
अमृत में विष घोलता, है आग—

हिम विमल में मेलता निर्बीज,
कला होती पूर्ण, जाती छीज !

बाँध मण्डल यह लहरते बोल
मथित प्राण-समुद्र के हिल्लोल !

यह नहीं जम्बाल-जाल तटस्थ
मौन की अनुगूँज या निकटस्थ

राग के अभ्यास के स्वर-खण्ड
यह नहीं झंकृत कि वीणादण्ड !

यह चिरन्तन से छिड़ा विद्रोह
नहीं नूतन को पुरातन-मोह !

सौकुमार्य्य विचार का कौमार्य्य
अरुणिमा यह तरुणिमा का कार्य्य !

सजग युगवाणी रही है फूट
रही नानी की कहानी छूट !

भंगिमा यह कह रही ले नाम
शक्ति सुप्त नहीं रहेगी वाम !

देह-अर्पण मात्र नेह-निधान—
अब न होगा, स्वतः-स्फूर्त प्रमाण !

ब्याह गठबन्धन न, मिलन समान,
न ही थोपी वस्तु—पत्थर; प्राण !

दिशाकाश कि शून्य का समवाय ?
इन्दु ज्योत्स्ना-ज्योति का उच्छ्राय !

सब नहीं शिक्षित, नहीं अभिजात—
यह कि विगत शताब्दियों की बात !

सम्मिलित स्वर माँगता विद्रोह;
पुरातनता से नवल का द्रोह—

है चला आता स्वमत-सम्बद्ध !
युद्ध को युग चाहिए सन्नद्ध !!

पुरुष परुष कि नारियाँ सुकुमार
प्यार परिणय या कि जग-व्यवहार ?

हरिण-कातर-नयन सार्थक शब्द ?
या कि रोर कठोर ? क्षण या अब्द—

प्यार को करता सघन या मौन
अतिवितर्कों का सदुत्तर ? कौन—

चरम निर्णय दे कि शंकित-चित्त
काम भर का काम करता वित्त।

धर्म से विक्षुब्ध युग, है रुष्ट—
मुक्ति से, शत युक्तियों से तुष्ट !

सन्धि कायरता कि विग्रह शौर्य्य,
क्षमा, नति से श्रेष्ठ उद्धत क्रौर्य्य।

नव सुखार्णव रेत-सा सम भाव
टीसता, विद्रोह युग का घाव !

शिशु उठा ले शूल, बाण, कृपाण,
कौन-सा देगा प्रकर्ष-प्रमाण ?

छेड़ना संघर्ष हो सम्बुद्ध—
प्रक्रिया यह है समर की शुद्ध !

प्रकृति पिछड़े को न देगी छोड़
कौन काल-प्रवाह सकता मोड़ ?

रखा तुमने यह नया दृष्टान्त
कान्त अनचाहा ? नितान्त कृतान्त !

अब करेंगी सब स्व-रुचि की बात
रोक पाएँगे न तात, न मात !

सुख न शान्ति, किसे कहें स्वाधीन !
परस्परता स्वार्थ-सार्थ-निलीन !

कला, शिल्प—जयेषणा ले छीन !
मूल्यहीन अमूल्य की स्थिति दीन !!

व्योम में विनिबद्ध दृष्टि विशोक
परम पद लेते उझक अवलोक

स्वर्ण-वर्ण-निविष्ट दिष्ट-निदिष्ट
देखता मैं भी अदृष्ट विशिष्ट :

सहस रुक्मिणियाँ बनाकर झुण्ड —
रूप-ज्वालाएँ नहा हिम-कुण्ड—

निकल आईं ढूँढ़ने चामुण्ड
वक्रतुण्ड, उदार उदर-त्रिपुण्ड !

प्रिय-निरीक्षण, हिय-परीक्षण हेतु—
हैं बही आई ढहा कर सेतु !

नित्य-शंकित चित हुआ ईर्ष्यालु,
यों स्त्रियों से कौन मृदुल; कृपालु !

पुरुष निष्ठुर; पुरुष कुलिश-कठोर
स्वार्थ-सार्थ निमग्न-मन घनघोर

अधर में धर सहज देता छोड़
क्या करे, अबला न बदती होड़ !

इधर नर होकर निरुत्तर हन्त !
प्रश्न नारी, प्रश्न-स्रोत अनन्त

(सुलझती उलझन न जो कर जोड़)
सिरफिरा सिर मोड़ फिर ले फोड़ !

जीभ सी ले, लाल-पीले भाव
हो न नारी का निगूढ़ स्वभाव !

जो न जाए चूक नर का दाँव
वह कहाँ नारी-नगर या गाँव !

बुद्धि-द्वार करे न नारी बन्द
हृदय निर्दय, दृष्टि क्यों हो मन्द !

काट करती वह कि ईर्ष्या क्रूर—
सिद्ध कर दे प्रबल, सबला, शूर !

वह नहीं कहती उसे जो ज्ञात,
सब उसे उच्छ्वास, जो हो बात !

अनावश्यक अधिकता पर दृष्टि—
न रखती, होती न खोटी सृष्टि !

मधुर उर में परुष बीजे प्रीति !
नारियाँ नर की सँवारें नीति !!

बदलती-सी देख तिय-मुख-रेख
कृष्ण-स्वर छहरा हरा अभिलेख

चैद्य शिशु ने था सभा के बीच—
मुझे ठहराया अधम, अतिनीच !

'रुक्मिणी उसकी'—सभी को ज्ञात,
मैं भगा लाया उसे, अभिजात

बन सकूँ, ऐसा उदात्त चरित्र !
भीष्म सम्मत एकमात्र पवित्र !!

रुक्मिणी ने सुना आँखें फाड़,
आँख पर था रखा ! तिल का ताड़—

बन रहा ! कुचला भुजंग-प्रसंग !
बात करने का यही क्या ढंग ?

वन्य कुक्कुट, गिरिश-सिर चढ़ बंक,
स्वच्छ मिथ्या चन्द्रमा अकलंक !

शरद भर गा शारदा हों क्लान्त
पुरुष की गाथा कि माथा भ्रान्त—

दैत्यगुरु की कन्यका का व्यर्थ;
देवगुरु का अमृतपुत्र समर्थ

हो सका न; मिले नहीं शब्दार्थ,
बन सका कोई पुरुष न पदार्थ !

कृष्ण कैसे चूकते, उद्दाम—
जगा पौरुष, हँसे ललित ललाम :

सुन्दरी-सुचरित अचिन्तित रूप
कभी गंगा, कभी वापी-कूप

भाग्य की जितनी बली हों आप
भोगती हैं पुरुष का अभिशाप

रूप दर्पण को समर्पित; प्राण—
तड़पते पाने परुष सम्मान !

चाहिए स्वायत्तता-संग्राम,
लिख पताका में पुरुष का नाम !

जीत कर पायी किसी ने प्रीति ?
हार नारी की, न युग की रीति !

द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व से संसार
द्वन्द्व से ही सृजन औ' संहार !

देवता की अर्चना नारी न—
हो सकी, नीराजना न नवीन—

हो सकेगी, कलह ही युग-धर्म
अकड़ गढ़ता शस्त्र, रचता वर्म !

देव की अवहेलना किस हेतु
मिलित नर-नारी भवार्णव-सेतु !

स्कन्ध दुर्बल, पल्लवित परिधान,
रंक मन, पर्यंक रत्न-निधान !

प्रीति अति अज्ञात, मति शंकालु,
हृदय गणित-प्रकोष्ठ, ओष्ठ दयालु !

आत्मरञ्जक तन धुआँती, आग
मन गगन में, चाह पद्म-पराग !

अग्र चिन्तन, पर पराङ्मुख कृत्य,
लहरते अंशुक कि किंशुक-नृत्य !

अधर फड़का रुक्मिणी का बिम्ब :
आम्र का अब नाम होगा निम्ब !!

रंग नभ ने बदल नील निरभ्र
किया सुरधनु मोड़ शुभ्र अदभ्र

यह व्यथा की स्थिर कथा पर चोट
मीन-उर-बंसी हँसी की ओट !

ताप मधुर कि शाप गुरु-गंभीर
आपका स्वर लहर तर कर तीर—

छू रहा; कमलालया का रूप—
धर हुई बाहर अनन्य अनूप
आपकी रसनासना अविकार
मति-निशा को समझ दिवस-विचार !

निम्न सुख पर-चरण-मर्दित घास,
उच्चतर सुख एक पर-उपहास,
रवि-उदय लख चन्द्र-बिम्ब उदास,
शंख सुन हो बाँसुरी ज्यों बाँस !

अश्रु-जल में किरण का कल्लोल
पुरुष का परिहास भी अनमोल !

देखती मैं रैवतक के शृंग
फूल पथराएँ, नयन तो भृंग !

टकटकी बिखरे कि जाए टूट,
व्यंग्य बतरस के अमिय-विष घूँट !

कुछ न होता, नयन घन का नीर
गिरि-विवेक पखार सहला पीर—

खोदता अच्छोद सर सिर बोर;
पोंछती मैं भी न, बहता लोर !

व्यर्थ ममता, व्यर्थ सेवाभाव,
चिर-समीक्षित अतज सहज स्वभाव !

कहाँ समता, कहाँ ममता नीच,
अति विनति पुंगव-दृगों का कीच !

माँ-बहन-सब टूटते सम्बन्ध,
नरक नारी, स्वर्ग का प्रतिबन्ध !

आप-से निष्पाप का विश्वास—
थी जिलाए प्रिय-मिलन की आस !

निरधिकार विपन्न मन की मार—
सह न पायी, हार-सी थी हार !

परुष प्रज्ञा पुरुष का शृंगार
प्यार नारी को मिला उपहार

मार-मारक प्रकृति से न परास्त,
कहाँ सूर्य्योदय, कहाँ सूर्य्यास्त !

उग्र और उदग्र और समर्थ—
सूर्य विधि नर; क्षुब्ध नारी व्यर्थ—

लहर-सी उठती, समुद्र, स-मुद्र
क्रान्त अन्तर हो महत् या क्षुद्र !

देखते ही देखते सम्पूर्ण
कल्पना पथ पर मनोरथ चूर्ण

उड़े नभ में एक मुट्ठी धूल,
सँवर बरसे सौध से सौ फूल !

रुक्मि भाई हैं मिले उस ओर
पुरुष-स्वर गर्जन कि वज्र-कठोर !

मैं करूँगी क्या भला प्रतिकार
अश्रु-अस्त्र अजस्र-कुण्ठित-धार !

ब्याह नारी का पुरुष का खेल
ला पिन्हाता नाक में कि नकेल !

सोचती थी; चेदि का अधिराज—
ले गया होता, न होती आज !

सुन मधुर सुर में मृदंग-निनाद
मोर मुकुट विभोर घन-आह्लाद !

तर्जनी से छू प्रिया का स्कन्ध,
कुन्द सुन्दर ने बिखेरी गन्ध—

कह रही क्या-क्या अकारण क्रुद्ध
बिना परखे हृदय शुद्ध-अशुद्ध !

उचित, सूनृत वचन दुर्लभ जान
मुझ उदासी के कहे पर कान—

चाहिए देना कि माक्षिक कोष—
मैं निचोड़ रहा, न मधु-मद-रोष !

कौन हीरक, पद्मराग प्रवेक—
रत्न-मणि का ?—है तुम्हें कि विवेक ?
धर्मशील, कुलीन था शिशुपाल
तरुण तरु के विकसने का काल,

सर्व-गुण-आगर कि नागर वीर,
ठान रण मुझसे प्रसन्न गभीर !

सात्वती-सुत नहीं मेष-समान
अन्ध अनुयायी; किया अपमान—

कटु अकुण्ठित कण्ठ से कर वान्त
शब्द अब्दों के वृथा विक्रान्त
सभा निष्प्रभ में, कुलिश-दुर्दान्त
वह कृतान्त नहीं, तुम्हारा कान्त—

था प्रथम निर्णीत, जन-अनुनीत;
मैं तुम्हारा मनोनीत विनीत !

क्रूर-किरण कि सूर-सा वह शूर
खींच ले जाती मुझे कुछ दूर—

घर्षणा उसकी समग्र-समक्ष,
मुझे ललकारा लहक प्रत्यक्ष :

"निम्नगा-सुत गलित-दन्त कि भीष्म
तुम्हें ऋतुओं में समझता ग्रीष्म;

मैं सिहरता देखता हूँ; शीत,
तुम स्वयं मिथ्या-विशेषण-भीत !

'राजवंश जहाँ उपस्थित सर्व,
कर्ण सेनापति कि गौरव, गर्व—

खर्व करता शत्रुओं का, ठान—
प्रण, उसी के सामने सम्मान—

गोप-ग्वाले का कि उससे धन्य—
इस सभा में नहीं कोई अन्य ?'

रुक्मिणी, अभिजात का वह दर्प—
फन उठा फुफकारता ज्यों सर्प—

डँस मुझे धँस कर गया पाताल !
भूल पाता मैं नहीं वह काल !

भीष्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी एक,
रहे अविवाहित, अपुत्र अनेक !

उन्हें क्लीव कहा; न टर्रा भेक !
सुन लिया सिर धुन, न तोड़ी टेक

उन्हें मेरी अर्चना थी साध्य !
बनूँ राज-समाज का आराध्य !!

रुक्मिणी, अभिजात का सन्दर्भ
कर रहा पीछा कि मन्त्रित दर्भ—

राम का; पाता न ठौर जयन्त !
क्या कभी होगा न इसका अन्त ?

कौन ब्रह्म-वसिष्ठ ? वेदव्यास ?
पाण्डु-कुरु का आभिजात्य-विलास ?

कर्ण कन्या का कपट कौमार्य्य ?
कृष्ण कुल से कर्म से या आर्य्य ?

श्री-प्रतप्त विवर्ण होकर भीष्म
स्वल्प-जल सूखे अलख नख ग्रीष्म ?

या कि मैं था मेघ; वह थे मोर—
कण्ठ खोल रहे अकुण्ठ; विभोर ?

देव होगा कौन कुल के मोल ?
न मानव दानव, न ही मृग कोल !

यदि उदात्त चरित्र, पन्थ प्रशस्त
हीनसत्त्व रहे पसारे हस्त !

जरासन्ध कबन्ध-सा टुक घूम
गिर गगन से ले कि मिट्टी चूम

चद्य सेनापति प्रबल-भुज-दण्ड
चक्र से मेरे मरे हो खण्ड

मृत्यु-तीर्थ सभा-भवन दिव-द्वार
यत्न-सञ्चित गर्व हो घनसार !

—श्रम समर्थित यह न व्यक्ति-चरित्र
यश सरसता कुल हिमाद्रि पवित्र !

मान मुझको राजपुत्र कुलीन
प्रेम-सरि की तुम बनी थीं मीन !

रुक्मिणी, भाया तुम्हें यह कृष्ण
शिशु मरा जिससे, जिया कि सतृष्ण ?

रुक्मिणी ने कर बढ़ा हिल्लोल—
थामना चाहा समुद्र विलोल ;

शत्रु-गुण-कीर्तन-मगन हैं आप
पुण्य द्युति पर छाँह डाले पाप !

आप उत्तेजित गगन नीलाभ,
साँप पहनें उछल उत्पलनाभ !

ज्वाल मधु उर में कि सुर में दाह
कुसुम की ऋतुराज को हो चाह ?

रक्त-कर्दम में प्रफुल्ल सरोज
वक्र चक्र नहीं, सुदर्शन खोज !

साँस-सौरभ से महकते बोल,
अग्नि की अभिजातता हो खोल !

ज्योतियों की ज्योति जो घनश्याम
बाँध सकता उसे विद्युद्दाम ?

जाति के, कुल के पुरातन नव्य—
ज्वलित जीवन-यज्ञ के सब हव्य !

तिमिर गहराए कि उगले आग
शान्त नभ, दिग्भ्रान्त सागर झाग !

चक्रवात हिला शिला-आधार—
ऊर्म्मि-घूर्णित करे घर-संसार !

हरितिमा से धूल साज-सँवार,
शून्य का रवि-चन्द्र से शृंगार—

आपको करना पड़ेगा देव,
पितामह-आराध्य-पद अतएव !

श्याम की अभिराम वाणी श्वेत,
सेंतमेत बका, थका अनिकेत !

वंश का अवतंस, कलित करीर
शिशु अवश्य अजेय था बलवीर !

क्यों अहेतु अप्रिय बना शिशुपाल ?
चिर-रँगीली हुई पीली-लाल !

क्या तुम्हारा था किया अपकार,
हृदय से करता तुम्हें था प्यार !

मरण-क्षण तक भी सका क्या भूल
नाम रटता ही गया उस कूल !

विश्वविजयी बल-प्रताप अनूप
चन्द्र-तारक-सूर्य्य तूर्य-स्वरूप—

बज रहे थे, तेज उसका दास
समर का वह अमर दृढ़ विश्वास !

गुणित-गुण, अतिनिपुण, नृपनीतिज्ञ
सुर-असुर-गुरुओं-सदृश वह विज्ञ !

हाथ जोड़ अड़े खड़े वित्तेश;
बन्दि-चारण रहे शारद-शेष,

लाल माई का, सकाल-विकाल—
नाम जपने योग्य था शिशुपाल !

और उस पर ही तुम्हारा रोष !
गुण-गणित निर्दोष होना दोष ?

सम-प्रमाण समान आनन-बिम्ब
अतलता में सिन्धु का प्रतिबिम्ब !

हो, न हो अनुरक्ति, व्यर्थ विरक्ति
क्रोध क्या प्रतिशोध ? प्रिय था व्यक्ति !

अहंकार उबाल ही दुर्वार
मन न छनता, सूख जाता सार !

एक खेवे में उतारा पार
देखता ही रह गया संसार !

कल्पलतिका से सँवरता स्वर्ग
खिंच चला आता स्वयम् अपवर्ग !

एक अवसर नियति-नियत अमेय
क्या मिला फल, फूल अनुसन्धेय !

प्रणय-ऋण न चुका सका अविरोध
लुट गया शिशुपाल काल प्रबोध !

खो तुम्हें सम्राट् भी कंगाल
बिफर जीता, मर गया शिशुपाल !

मेघमाला में न खोया व्योम,
ग्रहण सब दिन रहे सहता सोम ?

रुक्मिणी ने मुँह लिया झट फेर :
आपको समतोल कमल-कनेर !

जान लेता जगत् सत्य-असत्य !
न इनका रहता बना सातत्य !

वस्तुएँ सौ-रंग, एक विवेक
तना तान-वितान, सिमटी टेक !

ओढ़ चादर ओस की, कर मान,
चाँदनी कब तक रहेगी म्लान !

ओट कुहरे की किरण के बाण—
खेलते आखेट, लाल विहान !

हो हताहत, कर रहे विश्राम
मृग-शशक-शावक-सदृश अभिराम !

दल बदल बादल गगन में मौन
प्राण रोप उन्हें बचाता कौन ?

ज्योति का जब दुर्निवार प्रवाह
उर-तिमिर सैकत ढहा कर आह !

वेग से बहता, न कोई रोक—
मानता है, न ही सुनता टोक !

पूर्वराग प्रचण्ड झञ्झावात—
था छिपाए, मौन में सौ बात !

कृपण अग्रज चरण रज-कण भी न
दे सके जब, स्वजन परिजन दीन—

देखते ही रह गए निःशब्द;
एक पल जब लगा लगने अब्द;

प्रणय-अंकुर हुआ कुसुमित पत्र
न परिमल फैले प्रथम सर्वत्र

दिया खोल रहस्य-सा सन्देश
प्राण-मन ने दूत का धर वेश !

आप समझे अश्रु को दृग-धर्म
वंश-वन-विध्वंस को स्त्री-धर्म

पीढ़ियों, जोड़ो कि लज्जा छोड़
बन्धुओं की ओर से मुँह मोड़

तोड़ देना मर्म-मज्जित मौन—
और करती असम साहस कौन !

आप अपने आप क्यों नीलाभ ?
गगन होना ही बड़ा क्या लाभ ?

हरित धरती का नहीं कुछ मोल ?
छत्र-सा तनता अमोल खगोल !

की नमस्या सद्य पूजी साध
क्या हुआ यदि यह अतुल अपराध !

तुम नमस्यित राजकुल से, वीर,
मुझे उद्धारा, न धारा धीर !

गृहाराम अपथ दिखा निष्काम—
हो गया, करती कहाँ विश्राम ?

फल भले दे, वनस्पति में फूल—
तो नहीं आते, प्रकृति की भूल !

तुम मिले—क्या कम, प्रणय का धूम—
भरा, परिणय-यज्ञ-गृह में घूम

खड्ग चमके, मन्द रत्नप्रदीप,
रहे मोती बन्द, झलकी सीप !

अनसुने स्वर की अकण्ठ पुकार
आर्त भक्ति नहीं, अकुण्ठित प्यार

समझ-बूझ मुझे किया लघु-भार—
आपने, दर्शक रहा संसार !

सर्वप्रिय कोई नहीं इस ठौर
मौर पहने, न पहने सिरमौर !

आपकी ही मैं हुई, सन्तोष;
कौन रिक्त करे, भरे फिर कोष !

बन्धु अपना सत्य अग-जग आँप,
पुण्य-पाप कहाँ, कहाँ वर-शाप !

आग का सागर स्वयं कर पार
काम रमते राम का : तर; तार !

रुक्मिणी के लख तरंगित अंग
दूध-ईंगुर का मिला नव रंग

सजल पल भर, पल मधुर मुसकान
मुखर पल भर, पल अचल ध्रुव ध्यान !

कृष्ण की तृष्णा; चले कुछ छेड़,
विहँस बोले; हुई लतिका पेड़ !

फूल के पहले फलों का भार—
है शिखा तक दिख रहा अविकार

प्यार का दुर्वार उफना ज्वार
झाग-झाग उदार जीवन स्फार !

फहर लहरों पर, टिका आकाश
टुक झुका-सा ज्यों श्रवण के पास

कह रहा हो कुछ रहस्य निगूढ़
ताकता मुँह मैं विमुग्ध, विमूढ़ !

बतकही, बतरस नहीं निःशब्द !
बीत जाएँ दिवस, मास कि अब्द !

कुपित चुप्पी, जूझ जाएँ बोल
समर में हो अमर स्वर अनमोल !

जीव बाउर क्यों झुराए प्राण
आग औ' अनुराग एक समान !

भोगता-सा उर पसीज-पसीज
किया कड़वा चौथ था या तीज

कमल और कुई पखार-निखार
व्रत रखे कितने, मने त्योहार !

शक्ति तरुणाई, प्रफुल्ल स्वभाव,
ओज, साहस, प्रखर बुद्धि-प्रभाव

स्मृति कि गरमाई लिये अति तीक्ष्ण
सान्ध्य चन्द्रोदय अतन्द्र अभीक्ष्ण

रूप-राशि धुला न पायी बुद्धि
तीव्र दृष्टि भुला न पायी शुद्धि

देखकर जीता, न भी, कुछ काल,
शान्त पाप कि मर गया शिशुपाल !

प्यार का यह अन्धकार अपार
गया शिशु को लील जीवित मार !

सुख न आँखों से बहा जो आह !
हुआ लोहित, वही लहकी चाह !

होंठ प्यासे निरख अमृत प्रवाह—
चपल ललके, नियति में मर-दाह !

सोचता, अनुभूतियाँ सन्तप्त
तरीं कैसे दाह-सागर शप्त !

विवशता मन की, सहज संकोच,
प्राण देता है शलभ क्या सोच !

प्रात-वात कि शिशिर का सम्पात
जले पंखों की बताएँ बात !

पिसे मन-रथ के धुरों से प्राण
धँसे पहिए, हैं हिये का ध्यान !

कर्दमित आँसू उठाएँ झाग,
दूधिया मुसकान पीती आग !

गालियों पर उतर आया, ताप—
वह न जो मिटता मिटाए आप !

जो लगा न गले तुम्हारे, आह,
उस गले की हो उसे क्यों चाह ?

यह सुदर्शन चक्र कैसा नाम !
काट लाया किस गले का चाम !

था सुखाया रक्त हो अनुरक्त,
एक बूँद गिरा न रक्त अशक्त !

सब चकित थे, एक मैं मर्मज्ञ
आत्मबलि दे किया पूरा यज्ञ !

मार कर पछता रहा मैं आज
कर सका उसका न कोई काज !

अर्द्धनारीश्वर हुआ, न अनंग
रूप—दीपशिखा, प्रमत्त पतंग !

रुक्मिणी, था श्रेष्ठतर शिशुपाल
देश हो न सका, हुआ मैं काल !

रुक्मिणी हँस भी सकी न तुरन्त
कंस का हो भागिनेय न सन्त !

हों अँधेरे में जहाँ सब तत्त्व,
हो अँधेरे का वहाँ न महत्त्व ?

वायु समशीतोष्ण हो निष्प्राण
कर्म-कौशल धर्म का जयगान !

शान्त-शीतल को कहेंगे मन्द ?
भाव गहराने लहरते छन्द !

एक व्यंग्य कि एक ही आक्रोश
क्यों मुझे शिशुपाल पर था रोष !

रंच भर भी हो न जिससे प्रीत
रोष उस पर ! है नहीं अनरीत ?

वीर क्या, शिशुपाल था बलधाम,
किन्तु उसका था न 'मोहन' नाम !

रूप-राशि-कुबेर, अलका-धाम,
किन्तु वह तो था न सुन्दर श्याम !

मार देता, सहज शत आघात,
प्यार करता, यह असम्भव बात !

प्यार की मैं माँगती कब भीख ?
प्यार करना नारियों की सीख !

कृष्ण बोले : सुन लिया प्रति तर्क,
आक को, तुम कह रही हो अर्क !

पर बताओ, यह कहाँ की रीत,
की बिना परखे मुझी से प्रीत !

मैं न यदि होता तुम्हारे योग्य,
स्वर्ग सपना, नरक होता भोग्य !

जन्म भर चुप सोचतीं; की भूल,
स्तवक फूलों का, तिरंग त्रिशूल !

रुक्मिणी का उर कि पुरइन-पात,
प्रात-वात बहे, सहे आघात

या कि तेरे आँसुओं के ताल
जब उड़ाए कनक-किरण गुलाल !

बोल फूटे, ढुलकते हिम-बिन्दु
नहीं नील गगन, नहीं नव इन्दु :

प्रीति जैसे अर्द्ध-विस्मृत गान
प्रीति पिछले जन्म की पहचान

प्रीति युग-युग का सँजोया चाव,
प्रीति प्राकृत भाव, सहज स्वभाव

आपकी मेरी न पहली भेंट,
रंग पक्का, कौन सकता मेंट !

यों मनोरथ पा गया हो अर्थ
रुक्मिणी से प्रश्न विस्वर व्यर्थ

छेड़ का आख्यान-प्रत्याख्यान
विमल करता किन्तु अन्तर म्लान

तर्क फिर पुनरुक्त अप्रतिरूप
कृष्ण ने हँसकर किया : ओ रूप,

प्रीति हो भी सहज, लेकिन द्रोह ?
तुम करो तो तनिक ऊहापोह !

जन्म से वैरी रहा शिशुपाल ?
द्रोह युग-युग से रही थीं पाल ?

यदि कहो—'हाँ', तो बड़ा उपहास
वह तुम्हारे हृदय के था पास !

यदि कहो—'ना', सहज तो न दुराव'
द्रोह उससे रुचि ? विवेक—अभाव ?

अधर द्वीप झुका-झुका आकाश
प्रणय-घन को बरसने उल्लास—

कह रहा, फूले कँटीली बाड़,
रुक्मिणी बोली कि झोली झाड़ !

वाद—वात्याचक्र से मति घेर
बोलते लगती नहीं कुछ देर

सोचती हूँ किन्तु अपने आप
प्रीति की आलोचना है पाप !

सब विवादों को मिटाना प्रीति
प्रीति औ' प्रतिवाद ! कैसी रीति !

मैं रहूँगी मौन अब मन मार
जीत अपनी आप से जो हार

यह न समझें, कर रही मैं गर्व
दे रही उत्तर मुखर स्वर सर्व

पर करेंगे प्रश्न यदि फिर आप
मौन हूँगी बुद्धि-सीमा माप !

प्रीति ही क्यों, सकल चित्त—विकार—
सहज होते, यह चिरन्तन विचार !

हृदय रहता भाव-शून्य न नाथ,
विचरता कोई विषय ले साथ

इसी विधि शिशुपाल महिषीपाल
लक्ष्य बनते चित्त के क्षण-काल !

नहीं इसका अर्थ चित्त-निवास,
मन बसा लेता बना आवास !

बात इससे भी बड़ी है एक
जो बनाती अन्तरे को टेक !

तात, बन्धु, सखा कि पुर, परिवार
—सब किसी का हृदय पाता प्यार

हृदय के तूणीर के सब बाण—
शिरस्त्राण, सभी पुरुष के प्राण

खेलता उनसे हृदय खुल खेल
हृदय का निर्माण ही पँचमेल

पर नहीं इसमें कहीं कुछ दोष
फूलबम पर क्यों गगन को रोष ?

कृष्ण विहँसे : हृदय मृदु कि कपास
तुम न सह सकतीं तनिक परिहास !

सिन्धु-बेला पर चढ़ा कल्लोल
अप्रमेय हुई दिशाएँ दोल !

पद्म-सद्म अनन्त नील वनान्त
विकल अञ्चल-सा हुआ सम्भ्रान्त
वेणु मारुत—भरित निभृत नितान्त
कूज क्रन्दन-सा उठा सीमान्त !

रुक्मिणी ने लिए लोचन पोंछ
स्वेद-कण हृत्पट उमेठ अँगोछ :

नाथ यह ऐसा निठुर उपहास—
आप कर सकते, न था विश्वास

आप धूपित रूप की हैं खान
आँख जैसे पाँख वाले बाण !

श्याम, कुञ्चित, लहर लेते बाल
लाल—ओष्ठ—अधर, गुलाबी गाल

है कमी कुछ भी न, वेश अनूप
रूप नारी के अधिक अनुरूप !

क्वार-ज्योत्सना—ज्वार-सा सुकुमार
मिलनसार उदार—हृदय अपार !

पर न जाने क्या किया था पाप
हो गए नर वर निठुर···उर आप

की विधाता ने भयंकर भूल,
फूल रचते रचा सुरभित शूल !

कुछ करें अब इस जनम में पुण्य
प्राप्त हो नारी हृदय नैपुण्य !

जानते जो नारियों की बात
मानते सबसे असह यह घात !

एक बार जिसे समर्पित प्राण,
बीन उर के मधुर कोमल गान !

चिन्त्य कोई भी न उससे अन्य ?
पा उसे कृतकृत्य नारी, धन्य !

देख ध्रुवतारा बहा दी नाव,
नहीं जीवन में पुलिन का चाव !

पा सुदुर्लभ को सुलभ सुख सर्व
परस्पर विश्वास, जीवन पर्व !

कृष्ण बोले : यह सरोवर शान्त
कमल—कमल इसे बनाते कान्त

नवल अलियों का घुला गुंजार
प्यार का-सा तन्त्र, मन्त्रोचार !

यज्ञपावक पुण्यगन्ध अधूम
प्रज्वलित ज्यों प्रात का घन; धूम—

सर्व ऋतुओं में सुखद मधु-पर्व
मुझे तुम-सा रहा इस पर गर्व

प्रकृति-कौशल का सरोज विकास
ऊर्ध्व किरणों से लसित कैलास !

मोतियों का हार रत्न प्रकाश,
मुझे लगता सुलगता मधुमास !

किरण-कल्लोलित हुए हैं प्राण
साँस पंख-पखेरुओं के गान

ले रही अँगराइयाँ ज्यों पोर
छलकता हँसते दृगों से नीर !

आज हम दोनों प्रमद उद्यान
भ्रमण करने सान्ध्य पवन समान

मुदित निकलेंगे उदित जब सोम,
चाँदनी-फेनिल उदधि हो व्योम !—

बोलकर झट उठ गए श्रीकृष्ण
रुक्मिणी के नयन सतत सतृष्ण

रहे पीते रूप-पारावार,
रूप दीपक से शलभ को प्यार ।

पद्म के सोपान चढ़ उद्ग्रीव
हेरता हो ब्रह्म को ज्यों जीव

कुमुद का मद पी रहा ज्यों पद्म
तप्त-ज्योति रुचिर कि ज्योत्स्ना-सद्म !

रूप होना ही नहीं पर्याप्त
धूप सत्य अनूप, ज्योत्स्ना आप्त !

रूप का विन्यास व्यास समास,
मुझ अकेली की नहीं यह प्यास !

धूप हो या चाँद का उन्माद
एक-सा इनका नहीं रे स्वाद !

सर्व-हित पर चित करे क्या गर्व
एक का उच्छ्राय पर को खर्व !

कल्प किसका और किसका सर्ग
किसे स्वर्ग सुलभ, किसे अपवर्ग !

नहीं मिलता ठौर विभ्रम-व्यग्र
मन न हटता, न ही होता अग्र !

अकथनीय व्यथा-कथा निःस्यन्द,
तप्त मन को शिशिर-मधु-आनन्द !

असन्दिग्ध अनिन्द्य दृढ़ आधार
सूत्र-सा दो अक्षरों का प्यार

अमित इसके अर्थ का विस्तार
बोध से होता अधिक उद्गार

गूढ़ ग्रन्थिल खोल पाया कौन
प्रश्न चिर वाचाल, उत्तर मौन !

धार-सा स्रोतस्विनी की प्यार,
सूक्ष्म से पाता विपुल विस्तार !

दूर निर्जन श्वास-सा उच्छ्वास
है जगाता आस औ' विश्वास

हृदय मन्दिर : मूर्ति अपनी आँक—
मूँद आँखें, मुक्त मन से झाँक !

प्यार कारागार, चिर-उन्मुक्त,
कौन एकाकी ? सभी संयुक्त !

एक तृष्णा : गगन कृष्णाधार :
शून्य से विनिमय हृदय का प्यार !

प्यार का शुक ठोस पंजर खोल
स्वप्न-कानन में उड़ा कुछ बोल !

प्यार का रजकण शिखर-पाषाण
बिन्दु कल्लोलित समुद्र-समान

पलक-दल में बन्द-सा आकाश
दिग्दिगन्त अनन्त अन्तर्वास

तम अमावस का कि पावस-स्रोत
प्यार पद-जावक कि पावक-जोत !

मेघ रूखे शब्द सूखे जान
अर्थ की देती तडित् पहचान !

चाँदनी नहला रही रस-भाव
प्रेम खेता हेम-मन्थर नाव !

छोड़ हिमकण-मोतियों का हार
ओढ़ लेता प्यार नव नीहार !

खिलखिलाता फूल वन में अन्ध
खोल देती भेद अन्तर्गन्ध !

व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ सोच-विचार,
प्यार ही संसार का है सार !

सिर झुका ले हार शिशिर-वसन्त,
भरा प्यार-अगार अमित, अनन्त !

और क्या जीवन, ज्वलित अंगार ?
प्यार पर कर्त्तव्य का अधिकार ?

नीलिमा आकाश की सुगभीर,
किरन-पंछी उड़ रहा है चीर ?

शून्य दृग या भग्न स्वप्निल नीड़
मधुर सुधियों की छँटी-सी भीड़

भाव-सागर की अभाव तरंग,
बिखरने तक बदलती सौ रंग !

एक निमिष झलक पलक पर तैर
साँस गुन-गुन कर सधाए वैर !

पी गए दूरी, गए सी होंठ,
आर्द्र आदी हो कि सूखी सोंठ !

दूर से बतरस कि लगती रार
स्वर विसंवादी विरस झंकार !

एक अति लघु पल हुआ-सा भार
लाद चिन्ता का अचिन्तित सार !

हो न क्यों कर्त्तव्य कुलिश कठोर
मोड़ता क्षिति को गगन की ओर !

ढेर आशा का कुरेद बिखेर
हेरने में कहाँ लगती बेर !

मार्ग जीवन का कि बालू-धूल
फूल फैले दूर-दूर बबूल !

निविड़ सूनापन नयन-मन-प्राण
हो हवामें बन्द धूमिल गान !

प्राण···पंकज मुरझ अविकच शीर्ण
कामना की धूल में हो कीर्ण !

दुख-विहंगम पाल पंजर पूर्ण
दर्प-दर्पण हो गया क्यों चूर्ण !

मैं सुहाग-विहाग का आलाप
तान से सुर-उर सकूँगी माप !

नयन की गति जीभ से भी तेज
जीभ चखती रखे शब्द सहेज !

झनक नयनों की अयन के पार
तुरत होती सीप मोती; हार !

नयन अपने झपक निर्णय अन्ध—
झपट लेते : तुम कुसुम निर्गन्ध !

अन्धकार निहारने को आँख,
फड़फड़ाने को तिमिर में पाँख !

अब हुए ओझल पलट चल सद्म,
साँझ को होंगे खिलाने पद्म !

आज मधुवन में वसन्त-विहार
हम सुनेंगे अलि-नलिन-स्वन-सार !

प्रथम अनुभव प्रभव से विद्रोह
अनुपयुक्त परम्परा का मोह—

त्याग, आगे खड़ा करना स्वत्व
असंयत झोंके, अडोल ममत्व !

क्यों मिलावट, श्रेय सच स्वयमेव
अबलता अन्याय, बल नरदेव !

शक्ति-संचय ! व्यय, अपव्यय शब्द,
उपजते विद्रोह लगते अब्द !

मातृकुल से पितृहृदय तक क्षुब्ध
मान अपने आप को अतिशुद्ध

आचरण मैंने किया विद्रूप
कृष्ण-तृष्णा में न केवल रूप !

हुआ भावान्तर लिया जो माँग
वाच्य राग बुझा गया क्या आग !

एक हलचल थी छिपाए शान्ति,
अनकहा दुख रहा मुख की कान्ति !

व्यर्थ शंकित चित न सत् का अर्थ—
कुछ बताएगा; प्रयत्न निरर्थ !

गर्म माथे से निकलकर स्वेद
क्या बहा देगा हृदय का खेद !

मैं अकेली हो रहूँगी कोस—
नियति को, रति को, मदन निर्दोष !

यह कि तर्क-कुतर्क कदली-पात
समझ लूँ कुछ और होगी बात !

स्रोत वह आनन्द का अविकल्प,
अनमना गढ़ता न कोई गल्प !

भ्रमण-आमन्त्रण स्वयं चल आज—
दे गए; आरम्भ था निर्व्याज,

अन्त में भी था अनन्त वसन्त
मौन संयम, मुखरता का अन्त !—

अनायास करा लिया उपकार !
मैं कभी न कृतघ्न हूँगी, प्यार—

हो भले पहले न मेरी ओर,
हैं ठगे न गए कि चित्त चकोर—

एक मेरा, एक हैं वह चाँद
जो कि निकले मेघ-मण्डल फाँद !

अनुग्रह-निग्रह उन्हीं के हाथ,
दो पदों पर एक मेरा माथ !—

व्यंग्य करते वह नहीं निर्दाह
धैर्य उठता है कराह-कराह !

खोल कर बोले : नहीं उपलब्धि,
रुक्मिणी का हरण तरना अब्धि !

दुष्कृतों का क्या सबल दोर्दण्ड ?
तोड़ना कि घमण्ड था, पाखण्ड—

न था नटवर-वेश मेरा, शुद्ध—
शान्त होते थे जिसे लख क्रुद्ध !

शान्ति निर्बलता नहीं, पुरुषार्थ
प्रथम भ्रम में पड़ गए थे सार्थ !

त्याग मथुरा कहाँ आया भाग—
मैं स्वयं, जिससे न भड़के आग—

वंश-विध्वंसक नृशंस विनाश
जल मरे जिसमें सरल विश्वास !

वेग झञ्झा का न होता शान्त
धूल-बालू-वायु से संक्रान्त !

उपल-से जलते कि होते भस्म
पिघलता कोई न आयस-अश्म !

भाग कर हम आग से इस ठौर
नागरिक सागर-पुरी के, पौर—

हो गए हैं शान्त—तरु के बौर
हों न निष्कृप चण्ड-नृप-सिरमौर !

आग पानी में नहीं जो भेद—
हम जले, इसका नहीं है खेद,—

हों न उल्का-पिण्ड, हों आकाश,
गूढ़ मन पर दें उँड़ेल प्रकाश !

दग्ध सुन अविदग्ध-बैरी-बोल
हम न हों तम का बढ़ाते मोल

न अन्तर, अपना रहे आग्नेय
शान्त प्रान्तर में बहे जल पेय

हम अकिञ्चन हों, न हो विक्षोभ—
सिन्धु-तल में; नहीं लक्ष्मी-लोभ—

है हमें; हो रुक्मिणी लक्ष्मी न,
वह स्वतन्त्र, चुने पुराण-नवीन !

मानते कब हम कि उसके योग्य ?
राजपुत्री राज-कुल-उपभोग्य !

हम भगोड़े वीर, बोदे धीर ?
हृदय सकता देख कोई चीर !

राजराज नहीं कि नृप संक्षिप्त,
राग-भोग-विलास में कब लिप्त !

चाँदनी में हम नहीं उन्निद्र,
नहीं नभ में ढूँढ़ते हैं छिद्र !

हम किसी भी भाँति एक-समान ?
अचल आत्मा, कहाँ चञ्चल प्राण ?

हम नहीं अवलिप्त इन्द्र-समान
ढूँढ़ते प्रति-यज्ञ में सम्मान !

मोह देह न गेह का, कृतकार्य,
वित्त-वर्जित चित्त अपना आर्य !

विश्व से निष्पक्ष साक्षी-भाव,
भँवर में पड़ती न अपनी नाव !

कर्म का सीमान्त साधित धर्म,
बाण वाणी, मौन अपना वर्म !

बाँस—वन ज्यों साँस साधे मूक
हो गई अनजानते क्या चूक !

क्यों चलाते हैं कृपाण द्विधार,
तन रहे इस पार, मन उस पार !

खोल राग-विराग का भण्डार,
हैं लुटाते मुक्त हस्त उदार !

मैं सुनूँ क्यों बोल ये अनमोल,
खेल काँटों का, कुसुम लें तोल !

मैं शची क्यों इन्द्र की अनुरक्त,
सूर्य से छाया सतत-संसक्त

रोहिणी ज्यों चन्द्र-कर की टेक
मिल वसिष्ठ-अरुन्धती ज्यों एक

सत्यवान असत्य बोलेगा न,
कौन सावित्री; बता देगा न !

प्रात-वात-पवित्र नल का नाम,
शान्त भैमी 'अ-नल' का क्या काम !

राम की सीता कि सीता राम,
कौन नाम अनाम से अभिराम ?

गए डूब अथाह में संवाद,
छोड़ कर हर मोड़ पर कुछ याद !

सान्ध्यवेला तक अकेला सूर्य,
अब बजाए मन्द्र लय में तूर्य !

स्वल्प जल को सोखता ज्यों भानु
भस्म करता शेष समिध कृशानु

त्यों वितथ चिन्तन प्रसंग-विहीन
कर गया विस्तीर्ण दिन को दीन !

किरण-कण छवि के कि रवि के क्लान्त
ढूँढ़ते नग का शिखर एकान्त

रोकना आवेग मन का व्यर्थ
स्वर्ण किरण कि निकष श्याम समर्थ !

अन्धकार निगल सका न मयूख
चित्प्रकाश पचा न पाती भूख

हुए प्राण प्रमत्त, रोम कदम्ब;
साध बाधा मानती न विलम्ब

तथ्य कितना, कथ्य कितना आप्त
अभी परिसंवाद है असमाप्त !

वह स्वरामृत श्रुति-पुटों से पेय,
वह कथामृत पथ्य, सह-सन्धेय

अश्रु-हास कि प्राण-मान अछोर
फिर सुनूँगी सरस-परस-विभोर !

खोल कौशल से कुमुद-मधुकोष,
लुब्ध मन को मुग्ध देंगे तोष !

शम्भु ज्यों सिर पर सजाते चन्द्र
गरल पी, जाते पचा, निस्तन्द्र

त्यों विकल-पल नयन के कर्पूर
अमृत छलक जलन करेंगे दूर !

चहक विहगों की बहकती तान
पार कर जाती श्रवण, मन, प्राण

हूँ खिची आई चली स्वीकार
खोल गाभा सुख खिले या प्यार—

गहन दुख का मुरझता उच्छ्वास
फिर झरे चिर-भरे दृग के पास !

आ गई मैं, हो गई क्या देर ?
रुक्मिणी हुलसी दयित-मुख हेर !

दिन रहा है डूब, उपवन शान्त,
मन्द आतप गगन में तप क्लान्त !

नत नयन सन्ध्या खड़ी है पास
डोलती है गन्ध भर वातास !

थी रही उकता उनीदी बेर
क्यों न वनपंछी सुनाते टेर !

सान्ध्यदूत सुदूर का आहूत
लिये परिमल-पत्र आया पूत !

मिट गई छाया थकन की स्विन्न
मुस्कराया मन अकारण खिन्न—

ज्यों रहस्य दिखा, छिपा कर तथ्य :
अटपटा हो; पर नया हो कथ्य !

ललित कोमल हो न बिम्ब-निधान
खुरदुरापन ठोस की पहचान !

ज्यों जले जल में दिए निस्ताप,
घाट-घाट गया सरोवर काँप,

त्यों तुनुक स्मृति से तिनक कर पाँव
धूप की थिगली गली की छाँव—

समझते बढ़ते रहे इस ओर,
अलक में उलझी पलक की कोर

पंख फड़का घोंसले के द्वार
आ पखेरू कल्पतरु की डार

चीन्हने-पहचानने में व्यस्त :
था उगा, यह क्या वही रवि अस्त ?

दूर तक रतनार बाहर आग,
आपके मृग सो रहे या जाग ?

हो जलन प्रत्यूष, नलिन प्रदोष,
सदृश ही निर्द्वन्द्व को गुण-दोष !

छलकता निस्तल हृदय से हर्ष
सौध, हर्म्य कि शीश का उत्कर्ष

कल्पना की हरित-भरित उड़ान;
है हमें चलना प्रमद उद्यान !

श्रान्त सन्ध्या, धूम्र धूप—प्रकाश
स्वप्न-सा तारों-भरा आकाश

मन—प्रवासी—को बुलाता पास
छोड़ता उच्छ्वास हो न निराश !

आप अपने आप में पर डूब
निमिषभर न रहे अभी भी ऊब !

क्यों नहीं चलते प्रमद उद्यान ?
द्वार पर तत्पर तभी से यान !

यह कि जीवन का प्रथम मधुमास
रुक्मिणी जब आपके है पास

बालिकाओं—संग थी गतवर्ष
मैं मनाती आज के दिन हर्ष

सामने गुच्छों—लची कर बेल
खेलती दृग मींचने का खेल

और करती चुन सुमन सुकुमार
प्यार से सीमन्त का शृंगार

शून्य संज्ञा-हीन मन निर्गन्ध
वृन्त को भी मानता था बन्ध !

विमल जल में झलमलाता चाँद
निकलता गहराइयों को फाँद

विकच बचपन की पुलकती बाँह
चाहिए न जिन्हें सुनहली छाँह

बहलता जी पी अनोखी चाह
शिखर पर धर पाँव थाह अथाह

साथिनें हँसतीं : गई वय बीत,
पीत पात सुनें पुहुप के गीत !

कृष्ण बोले छोड़ कर उच्छ्वास :
कब, कहाँ तुम हो न मेरे पास ?

कवच वचन उदार, कुण्ठित बाण
विश्व के उर को लगे निष्प्राण !

किन्तु नीचे मच रहा कुहराम
जब कि सर्वोपरि तुम्हारा नाम !

न हों सहजन्मा हमारे चाव
परस्परता का न हो कम भाव !

सन्तरण को मरण लेकर नाव—
हो, खड़ा, जीवन करे न दुराव !

रन्ध्र हो न, अनन्यता का वेणु
लय तुड़े न, उड़े न स्वर की रेणु !

वीचियों के बीच सागर-शक्ति,
पूजना सैकत, पुलिन क्या भक्ति ?

कह रहा मैं भी सहज, निर्व्याज
निरुद्देश्य भ्रमण ! सताती लाज

अन्यथा लेना न, देना ध्यान—
दूरियाँ सिमटें, भवन उद्यान !

विश्व भर घर हो जिसे वह ज्ञान—
पूछने निकले : किधर उद्यान

विहग की ले माप गगन उड़ान,
माप मन सकता नहीं उद्यान !

भरे कंचन-कलश आयस नीर !
विवश सन्ध्या, पाँव में जंजीर,—

शिखर से उतरे, तरे तमसा न—
गहन वन हो जायगा उद्यान !

खिला फूल कि गईं टहनी सूख
गन्धमादन मगन, मन्द मयूख,

रुक्मिणी उर की उदासी तूल
विहँस बोली : हुई मुझसे भूल ?

हो गई कोई अनोखी बात
हो रहा श्री-मुख सजल जलजात !

सुप्त-सरसिज—सर-समान गभीर
नयन जैसे शून्य—शर तूणीर !

थे सकारे पवन—हल्के आप
झर रहे निर्झर—अधर गिरि छाप

न गोपन गहराइयाँ, न उछाल
ताल में फैले हुए न मृणाल

न कस्तूरी थी हुई निर्गंध
साँस पर न उसाँस का प्रतिबन्ध

लतर में आवर्त बनते फूल
गन्ध पोंछ रही दलों की धूल

तब गयी करने कुसुम शृंगार
वसन वासन्ती बदलने स्फार

कर्णिकार, कुटज कि कुरवक—हार
काञ्चनी काञ्ची भ्रमर-गुंजार

मैं घिरी कि तिरी उमंग-तरंग
सटी परछाईं उठी लौ अंग,

थरथराती वर्तिका की चाह !
सान्ध्य दीप जला दिखाई राह !!

न हो संभव जो वसन्त-विहार
श्रवण करना व्यर्थ सन्त-विचार !

कृष्ण बोले—सरलता है प्यार,
ग्रन्थियों की ग्रन्थियाँ सुविचार !

हो न हो मस्तिष्क ग्रन्थागार,
हृदय का क्या ग्रन्थ-सा आकार !

नींव खोद विनोद का प्रासाद
मैं ढहा न बहा रहा अवसाद

किन्तु सुनकर स्वर वसंत-विहार
हृदय के निर्दय हुए सब तार

झिलमिली स्मृतियाँ सुषुप्त अशेष
जाग कर लेतीं उसाँसें शेष

फिर रहा दृग-बीच शैशव-चित्र
दिख रहे वृन्दा-विपिन के मित्र

नील बाल तमाल तरु का पुंज
कील-सा चुभता करील-निकुंज

रेत होगा आज यमुना-तीर—
खेत-सा कि जुता कदम्ब गभीर !

मलिन तृण, तरु, गुल्म, व्रतति-वितान,
सघन मधुवन उजड़ कर सुनसान

बन भ्रमण-संगी विहंग-समान
जो रहे उड़ते गगन-मन छान

आज होंगे गोष्ठ—पास उदास
गोप—गोपी ताकते आकाश !

न मिलता अस्तित्व का आभास
न उठता प्रिय सख्य का विश्वास

अनिल से लड़ अनल ज्यों निस्तब्ध
बरसता जलधार अन्तर्दग्ध !

कह रहे होंगे, न कोयल कूक,
कौन सुनता है यहाँ दो टूक !

नाव के ऊपर लहरता पाल,
काँपता जल में छिपा शैवाल !

कमल-कमल खिला रहा है ताल
मुँदा अन्तरतम कि कर्दम पाल !

कह रहे होंगे भरे दृग नीर:
बह यहाँ मत मन्द मलय समीर !

वास चन्दन की, भुजंग-उसाँस--
लाद मत, दूषित न हो गो-ग्रास !

बरजते हैं हम सहम कर जोर
किरन को मत थिर तिमिर में बोर !

उतरती है साँस चढ़कर शीश
प्राण को पाषाण-जैसा पीस !

यह पहर सुनसान, तन-मन तान
किधर को भी फेंकता अनजान !

सिसकियाँ बुनतीं कभी जो शब्द
कर नए लातीं गये जो अब्द !

आँधियाँ सह लें भले खर-पात
असह तेरा गन्ध का आघात !

कह रहे होंगे : मधुप, सौगन्ध,
वकुल मुकुलित है झुकाए स्कन्ध

इधर मत आना सुनाने गान,
है नयी तेरी नहीं पहचान !

लय भले तेरी प्रणय उन्मुक्त
भाव जीवन से नहीं संयुक्त !

हम गँवार दुधार गौ की जात
घास-पात चबा रहे दिन-रात !

बिका जीवन रस-जनम के साथ
कौन अब सिर पर रखेगा हाथ !

धूलि-धूसर हैं थके-से प्राण,
चुप मधुप, मत छेड़ स्वर-लय-तान !

कह रहे होंगे : रुको ऋतुराज
बन्द वृन्दावन, लखो मत आज !

मिला मिट्टी में गगन का ओज
व्यर्थ रंगों की करोगे खोज !

छन्न जीवन, रुग्ण, कुण्ठाग्रस्त,
हुई असमय स्फूर्ति की छवि अस्त !

व्यग्र तुम ऊधम मचाने हेतु
रचे उत्पल-पत्र छत्रित सेतु

उतर कर सर पर न तोड़ो फूल
दृष्टि भरने सृष्टि भर की धूल—

मत उड़ाओ, नाम मात्र पराग
सह नहीं वनफूल सकते आग !

बक्र ग्रीवा कर कपोत-समान
भौंह सौंह—भरी धनुर्धर बाण

रुक्मिणी फूटी, न टूटी डोर,
कृष्ण आनन पर चुभो दृग-कोर !

हैं बड़े भावुक वहाँ के लोग !
सह्य उनको आपका न वियोग !

आपने सब का लिया मन मोह !
दिन बिताते हैं सभी पथ जोह !

पर रसिक इतने जहाँ के ग्वाल
ग्वालिनों का क्या न होगा हाल !

बाल्य—केलि हुई उन्हीं के साथ
याद क्यों आती नहीं, ब्रजनाथ ?

कृष्ण बोले : भूल जाऊँ प्रीति,
रुक्मिणी, मेरी नहीं यह रीति !

गोपियाँ निर्व्याज—सरल, पवित्र,
हृदय में किनके अँके हैं चित्र ?

बाह्य जग से जब कि जाता ऊब
थाहता उर-उदधि तल तक डूब !

रूप की परछाइयाँ प्राचीन—
हैं नहीं होतीं, नवीन-नवीन !

रूप आस्था; अर्गला रंगीन—
खोलने पर नभ न दिखता दीन !

नाम केवल कल्पना अभिराम,
रूप है अनुभूति का आयाम

विस्मरण उसका मरण-आह्वान
व्यर्थ जीवन, न हो जिसमें ध्यान !

साँस क्या झड़बेरियों की गैल
उलझ कर फूले, फले या : फैल !

देह वीणा-दण्ड, साँसें तार
जब रहें सुर में बजेंगे प्यार !

प्यार ही जीवन-समर का सार
भूल जाऊँ, समर जाऊँ हार !

रुक्मिणी लहकी, ललक का दीप
बुझ गया था, रही रीती सीप :

आपका सब पर सनेह समान
मैं स्वयं इसका ज्वलंत प्रमाण

तत्त्व सब फिर भी न पाती जान,
आपके भी पास मैं अज्ञान !

जन्म से मैं लघु कि आप महान्
कहाँ नव पल्लव, कहाँ पवमान !

है भिदी संवेदना में आस
साँस-साँस छलक-छलक कि मिठास

पकड़ पैनी, वेदना की आँच,
चटकने लगता हृदय का काँच !

नया सोच जगा रहा, दृग पोंछ—
चेतना सुनती कि स्वेद अँगोछ !

हाँ, यही सन्देह एक विदेह
आपके ही संग उपजा स्नेह !

चिरस्थायी गीत की-सी टेक
आप जैसे सद्य नरों में नेक,

न कोई नारी दिखी उस देश—
आपका जिस पर सनेह विशेष ?

'क्या अकारथ वचन ? मन का मोह ?
कृष्ण बोले : सत्य से विद्रोह—

मैं करूँ ? सम्भव नहीं अलगाव,
अविश्वास नहीं मनुष्य-स्वभाव !

रूप का, आनन्द का उद्रेक;
गीत में संगीत-तत्त्व-विवेक;

तप्त उर पर शिशिर-कण-अभिषेक
चिर-विरह वह, मिलन का क्षण एक !

रुक्मिणी चिहुँकी : लली वह कौन !
है कनक-चम्पक कली वह कौन ?

रोहिणी ज्यों तारकाओं-बीच
शिशिरतर करती नयन-मन सींच

राग जो कल्याण, रूपक ताल;
जो गले की वैजयन्ती-माल

नारि-कुल का चरमतम सम्मान
गोपियों का गर्व, गौरव-गान

स्मृति प्रतिध्वनि विगत ध्वनि की एक
काल के हों अन्तराल अनेक !

भूति की अनुभूति-सी वह कौन ?
ब्रज-विपिन-मधुद्युति-सी वह कौन ?

वह अनवद्य अरूप का आह्वान
अनसुना अपरूप का आख्यान

अतल जलनिधि ज्वलित अन्तर्नाद;
क्यों गया था मैं मथा अविवाद !

तृप्ति दूर्वा हिम धुली वैदूर्य—
पर चमकता शरद् का-सा सूर्य

नील लोहित कोरकित अरविन्द
रच रहे मधुचक्र मत्त मिलिन्द

चूर्ण-दर्प रहे झुके उपमान
शिथिल अखिल उछाह छवि-प्रतिमान

ज्ञान-सी गम्भीर रस-सी कम्र
भक्ति-श्रद्धा-सी प्रकृति से नम्र

विरज व्रज की साँस-सी साकार
राधिका वह अश्रु-सी सुकुमार !

शून्य की-सी रेख-चन्द्राकार
पूर्ण अक्षर नाद में ओंकार !

परिधि जलनिधि की, गगन न अमाप,
अणु-महत् के गणित का अभिशाप—

राधिका सकती नहीं है झेल,
धन-गुणात्म विकास उसका खेल !

प्रियजनों के सब मनोरथ चूर
जब हमें लेकर चले अक्रूर

अप्रतिभ, उद्विग्न, अतिशय तप्त
स्नेह-ओढ़े, मुँह सिए, अभिशप्त

रह गया व्रज रज-भरी ज्यों आँख,
झरी मरु में मोर की ज्यों पाँख !

उड़े फूल कि बची खर-पतवार
रही परती, जला नभ का प्यार !

आरती का जल गया कर्पूर
शेष चिह्न रहा स्वजन को घूर

गई झञ्झा झाड़ को झकझोर
गया नवनिधि को चुराकर चोर

ज्यों जली दावाग्नि वृन्दा-बीच
ज्यों पधारी सर्वहारी मीच !

मच गया सब ओर हाहाकार
गन्धवीथी का उड़ा शृंगार

प्राण-गान गँवा, बचा चीत्कार—
बहा प्यार कि रहा ज्ञान गँवार !

माँ हुई मूर्च्छित, गई सुधि भूल
शोक-सरि उमड़ी ढहा युग कूल

धधकते ज्वालामुखी-से तात
अश्रुधारा-स्नात दिखता गात !

कंस पर विक्षुब्ध करते कोप
विकल विह्वल सकल गोपी-गोप

घेर रथ पथ पर पड़ी प्रण ठान
गोपिकाएँ दे रही थीं प्राण !

कह रही थीं फाड़ उर, कर जोड़
हो कहाँ जाते हमें यों छोड़ ?

यदि हुए, कर दो क्षमा, अपराध,
वन्य सरि हम, तुम समुद्र अगाध !

सुख मिले नर-नारियों को मार
नभ भरा है, दो गिरा शतधार !

दी जगा आत्मा सुला कर देह
खुले नेत्र निहार ले अब स्नेह

मधुर-स्वप्न-समान जीवन-प्रात
गुनगुनी तर धूप कम्पित गात !

धूल से सौन्दर्य का शृंगार
रुक्मिणी, तुम देखतीं : क्या प्यार !

फूल का खिलना, मुरझना और,
प्यार-उपसंहार का क्या ठौर !

रुक्मिणी, तुम सह न सकतीं शाप
नियन्ति का वह कुटिल भृकुटि-प्रताप !

रुक्मिणी बोली कि देर-सबेर
कल्पलतिकाएँ हुई झड़ बेर !

झर गए शेफालिका के फूल !
अमरवल्लरियाँ पकड़तीं तूल !

आपका बचपन गहन का चाँद
चपल कर चमका गया ग्रह फाँद

स्मृति पवित्र चरित्र की अनमोल
कह रही मैं श्रुति-तुला पर तोल !

स्मृति बुलाती भूत को गह सूत
वर्तमान जले बने न भभूत !

कुछ सुनाएँ और स्मृति-माहात्म्य
सब सुरों का राग से तादात्म्य !

कृष्ण विरस हँसी हँसे निष्काम
स्मृति मलिन तूणीर, शर अभिराम

चीर कर वह तीर-सी अम्लान
प्राण को झकझोर बनती ध्यान !

स्मृति किसी की आपबीती-संग
रहस देती आँसुओं को रंग

हृदय को हिलकोर करती शान्त
तीक्ष्ण चिन्तन को सुकोमल कान्त

पवन ज्यों गिरि-गह्वरों में बन्द
शून्य को करती ध्वनित अतिमन्द

ज्यों प्रतिध्वनि गगन-घन की घोर
स्मृति किसी की मति-ध्वनित चितचोर !

त्याग कोलाहल हुआ एकान्त
मन सघन निश्चल दिनान्त-प्रशान्त

बुलबुले संकलित करता मौन
परिधि उद्वेलित उदधि की कौन !

लालसित स्मृतियाँ, नहीं इतिहास,
देखती दिन-स्वप्न भूमि उदास !

न यह जीवन का प्रयोजित ध्येय
न यह नीरवता रही है गेय

नहीं स्मृतियाँ किन्तु विफल प्रयास
सफल होतीं जिन्हें छूकर साँस

चुने शब्द कि गुनगुने-से भाव;
न हो जड़ जीवन, बढ़ाती चाव !

कर लिया मस्तिष्क में घर आप
हिम हुईं स्मृतियाँ उठातीं भाप

आँधियों में गए डैने टूट
गया जीवन हाथ से ज्यों छूट

कल्पनाएँ अल्पना-सी सूख
गईं तज कर राहु-ग्रस्त मयूख

चित्र-सी मिटती सिमटती रेख
नयन भर आएँ जिन्हें टुक देख

सिर चढ़ाने का उन्हें परिणाम—
नित नयी स्मृतियाँ कि छाया-घाम !

कामना के, कर्म के कुछ बीज—
अँकुरते, कुछ छिटक जाते छीज—

कर्म से संकल्प और विकल्प
भ्रम कि संभ्रम या कि विभ्रम अल्प

स्नेह से प्रच्छन्न, रोष कठोर
तारकित रजनी कि मेघल भोर

छोड़ जाते छाप अपने आप,
चेतना जाती स्मरण कर काँप !

रुक्मिणी ने की ठिठोली घोल—
पुष्प-रस में सुमन, रजकण तोल :

गोपियों का तो सुना आरोप,
फूल बरसा राधिका का ओप ?

वीचियों के बीच उसकी नाव—
थी दिखाती भँवर का-सा भाव !

ऊभ-चूभ हुई गई या डूब !
आँधियों में अडिग रहती दूब !

कृष्ण का उथला हुआ गाम्भीर्य
हुए निष्प्रभ, निश्शरण, निर्वीर्य

रुक्मिणी-मुख पर टँगे-से नेत्र
कह रहे ज्यों वह न मृगया-क्षेत्र

सिंह का लख स्वप्न हिरनी दीन
राधिका थी स्वर्ग-सी श्रीहीन !

पुत्तली गजदन्त की निष्पक्ष
उड़ सकी न सुधांशु-सूर्य-समक्ष

सीख देते भीख ज्ञान-समृद्ध :
हो प्रबुद्ध; सँभालते थे वृद्ध

सृष्टि युग-सन्ध्या-किरण की आद्य
गीत गिरि गाएँ, झरे झर वाद्य

जरठ के हठ ठान होंठ कठोर
तत्त्व जीवन का बताते घोर

अनथकी-सी वेदना की टीस
साँस घुटती, दाँत लेती पीस !

वह, असह सह, दूर सबसे कौन—
थी खड़ी निस्पन्द, निश्चल मौन

एकटक, अपलक, निमेष-विहीन,
नयन ज्यों सब देख निज में लीन !

रो पड़ें, जैसे न ऐसी घात !
चकित हों, ऐसी न कोई घात !

अधर पर जिसके न कोई बोल,
ज्यों मिला हो कुछ न हृदय टटोल !

महाभाव अडिग कि सकता डोल ?
कह सकी जो कुछ नहीं मुँह खोल !

वन हिला, पर अनल-अनिल-झकोर
अचल को न सका चपल झकझोर

देह कैसे थी खड़ी निष्प्राण
कौन नारी मूर्ति वह पाषाण ?

स्वर्ण-वर्णा जो हुई घन-श्याम
आह ! राधा है उसी का नाम !

जब गए उद्धव सिखाने ज्ञान
गोपियों को, प्रिय जिन्हें खग-मान

जानतीं जो दुग्ध, दधि, नवनीत
जानतीं जीवन नहीं विक्रीत

प्रीति का पथ प्रिय उन्हें, उद्भ्रान्त—
ले भले जाए कहीं कर क्लान्त !

कमलदल ढक ले उन्हें स्वीकार,
हो भले नीचे कँटीली डार !

प्रीति के स्वर पर उन्हें विश्वास
हो भले परिणाम सत्यानास !

सह गईं दुःसह विरह की मार
सह सकीं लेकिन न ज्ञान-प्रहार

रह गए उद्धव हिलाते हाथ
ज्ञान की गठरी रखे निज माथ !

पूछने जब लग गईं सब साथ :
लौट आएँगे कभी ब्रजनाथ ?

भरा मन में, सुमन में ज्यों गन्ध,
मुक्ति मन की, न था तन का बन्ध,

दरस-रस-तरसे नयन कि सतृष्ण
कब पधारेंगे हमारे कृष्ण ?

हृदय अधिक समृद्ध, पुलकित-प्राण
देख लें शत दीप का निर्वाण !

जीवनौषध खो सभी म्रियमाण
गुल्म-वल्लरि-तरुण-तरु निष्प्राण

ले गया परिमल अनिल उड्डीन
हुआ पंकज पंक-अंक-निलीन !

चक्र ऋतु का क्या चला, हम भ्रान्त
मुरझ टहनी पर गए हो क्लान्त !

बीतते दिन स्वप्न बुनते व्यग्र
रात जाती गगन-सुमन समग्र—

अथक चुनते, तन तली में प्राण
ऊर्ध्व में उफना रहे आह्वान !

कब पधारेंगे हमारे त्राण ?
सब रसों के सब स्वरों के गान ?

न उगता पूरा शशी उस देश ?
बरसता सावन नहीं घन-वेश ?

न चिनगी चुगता वहाँ कि चकोर
उर पपीहे का चिरा न मरोर—

है गुँजाता सौध सित प्रासाद ?
तम जला पुँस्कोकिलों का नाद ?

क्यों न आती याद करुण पुकार
विजय यमुना-केलि-कुञ्ज कछार ?

प्रश्न सुन भौचक थके धीमान्
ज्ञान गुरु हो, प्रेम तो भगवान्

गूढ़-दृढ़ उर भी हुआ दो टूक
स्वयं वाचस्पति हुए जड़, मूक !

होंठ कठिन-कठोर क्या, पाषाण,
न जीवन-झर झरा द्युतिमान !

झुर्रियों में मुँह छिपाता ज्ञान,
वेदना में प्रेम करता स्नान !

आँसुओं में ऊभचूभ उमंग
मधुर सपनों की उछाल तरंग

कल्पना में पक्ष-हीन उड़ान
अनवरत भरता किसी का ध्यान !

सान्त्वना के धूम से परिवेश
हुआ धुँधला-सा प्रकाश-विशेष

बाण माथे में चुभा, सब हाथ—
थे टटोल रहे सहम कर साथ !

लड़खड़ाती जीभ, व्याकुल बोल,
सम्मिलित ध्वनि ले प्रतिध्वनि तोल !

शब्द-जाल बुना करें उन्मत्त
टकटकी बाँधें निकालें सत्त

फेंकने पर फूल निकले ज्वाल
बाँटते आनन्द शंकित भाल

क्यों विशंका, क्यों दुरन्त दुराव
श्रवण के अनुकूल वचन, स्वभाव—

निष्कपट, सुनते विहंग-विराव,
क्यों न उपजा, तनिक श्रद्धा-भाव ?

मैं न बेपर की उड़ा कर क्लान्त
वे न मेरी सीख सुनकर शान्त !

अनिल ने चञ्चल किया संकल्प
न था निश्चल एक पल लघु, अल्प

कुञ्जवन की थी न निष्फल शान्ति
हँस रही थी : ज्ञान क्या निष्क्रान्ति ?

बन्धनों में मुक्त जिनके प्राण
कर्म की तल्लीनता प्रणिधान

दिया जिनने विहँस जीवन दान
क्या नया हो देय उनको ज्ञान ?

एक अनुभव, एक अनुसन्धान,
क्या करेंगी धारणा या ध्यान !

असह यह मेरे लिए भी आज
अन्तरिक्ष न हो सका निर्व्याज

वस्तु अनदेखी तली में भी न
लड़खड़ाएँ पाँव समतल-हीन !

अनुसरण सीखा, न तर्क-विवाद
योग और वियोग-परिसंवाद

क्यों सुनेंगी श्रवण-फल जिसका न,
नाक हो जो बन्द, खोलें कान !

तोड़ना था ज्ञान का व्यामोह,
व्यर्थ था प्रभु का न मुझ पर छोह !

खोलनी थी आँख ज्ञान-विनिद्र
पूर्णता के थे दिखाने छिद्र

इसलिए भेजा गया मैं आह !
थाह लूँ—है प्रेम-तत्त्व अथाह !

न ही चपलेन्द्रिय, न बौद्धिक वर्ग
भोग सकता है प्रणय का स्वर्ग !

प्रणय तन्मयता, न बुद्धि-विवेक,
ज्ञान का क्या, ज्ञेय-ज्ञाता एक !

स्वगत उद्धव—ने कहा : न उदन्त
निष्प्रमाण, प्रणय कि ज्ञान अनन्त !

ज्ञान का वाणिज्य : मूल्य कि हेम ?
दे नहीं सकता अकिञ्चन प्रेम !

प्रेम पूजा है यथास्थिति की न,
प्रेम रहना चाहता है दीन !

ज्ञान की ऊँचाइयाँ उस पार
प्रेम की गहराइयाँ मझधार

पार पा न सका ने ऊबा विश्व
प्रेम आत्मार्पण कि सेवा निःस्व !

सत्य है अपरोक्ष अनुभव-ज्वाल
शमीतरु है एक तरुण तमाल !

जो न हो निष्कम्प, वह क्या ज्ञान !
प्रेम की आँधी, डरे निष्प्राण !

हो न हो, प्रभु ने पठाया सोच—
ज्ञान यदि व्याख्यान, ज्ञानी पोच !

है अचल यदि स्वच्छ निर्झर नीर—
ज्ञान उमड़े द्वन्द्व डूबे तीर !

जागरूक मरे करे अनुमान,
दैव-योग अमान्य, योग प्रमाण !

गोपियों का हृदय प्रणय-विभोर,
ताकती भी हैं न मेरी ओर !

राधिका हैं किन्तु अब भी शेष
ज्ञान-धन मेरा नहीं निःशेष !

एक और प्रयास कर लूँ ठोस
कमल दल पर झलमलाती ओस

है बताती रवि—किरण का स्पर्श
मन्द चन्द्रातप, मनाती हर्ष

गोपियों से ही हुआ यह ज्ञात
सुन सकीं राधा न मेरी बात !

किधर भी; जाने कहाँ, किस ओर—
वह अकेली शून्य, आत्म-विभोर !

मैं करूँ पहले उन्हीं का ध्यान
जो न राधा ने सुना, क्या ज्ञान !

उस घड़ी वह थी पड़ी कृश-काय
एक पेड़ तले विमन, निरुपाय !

योगिनी ज्यों हो समाधि-निलीन,
कमलिनी अन्तः प्रफुल्ल नवीन !

दुख-मुखर गोकुल-समुद्र-समीप
बन्द कर मोती पड़ी ज्यों सीप !

सिद्ध किससे कर सके ? क्या स्वार्थ ?
साँस हो संगीत, स्वर चरितार्थ !

जले सागर, वह्नि-वाड़व कौन ?
शत तरंगें रह गईं जब मौन !

खोल दे राधा-हृदय का भेद
साँप का मन्तर न अन्तर्वेद !

अन्तरंग कि वाग्विलास-विराम
ज्योति के अक्षर परम अभिराम

जो प्रमत्त करे, अरे वह क्षेम ?
तरल छलके, क्या सघन वह प्रेम ?

सिर झुका उद्धव रुके उस ठाँव
होंठ जड़, अड़ लड़खड़ाए पाँव

धूम्र-धूसर क्षितिज-सा गम्भीर
स्थान था वह जहाँ सूक्ष्म शरीर—

भूमि पर थिर देखता आकाश,
अनिर्वच वह, था किसी के पास ?

मन विजन संकल्प-हीन उदास,
होंठ निश्चल, शान्त पीकर प्यास !

दिवसकर गोधूलि का आह्वान—
कर रहा था गगन पार प्रयाण !

झुटपुटे में चमक बड़रे नैन
थे बनाते विमन तारे, रैन !

साँस का पा परस झरते फूल
थिरककर तरु-पत्र तरते शूल !

गिरि गहन में ढूँढ़ कर कुछ आन्त
देख परछाईं स्वयं की भ्रान्त !

गई पकड़ उड़ान पर चतुरंग—
एक विहगी, उड़ा चतुर विहंग !

सह थकी टहनी पुहुप का भार—
भीरु : होगा और ऋतु-संहार !

कहाँ रंगीनी कि भीनी गन्ध,
स्वप्न-वीथी बन्द, मृग-दृग अन्ध !

तलहटी में तम प्रियंगु-निकुञ्ज
ज्योति के कण ज्योतिरिंगण-पुञ्ज

धुन्ध, धुँधला-सा प्रकाश-वितान
स्तिमित दीप-शिखा कठिन हठ ठान

कमल-हीन मृणाल, निर्जल ताल,
व्रत-समग्र विफल रहा ज्यों साल !

अन्तरंग समान ही बहिरंग,
विरज रह आया ससत्त्व असंग !

देखकर फिर सिर झुका कि पहाड़—
तिलमिलाया आँधियों में ताड़ :

ज्ञानगुरु तुझसे उऋण हूँगा न ?
सत्यदर्शी दृष्टि मूँदूँगा न !

ऊर्ध्वमुख तू अग्नि-सा उत्तप्त
मान-सर में उतरकर सतप्त

आर्द्र इन्धन को सुखा न कषाय—
धूम फैला कर न मैला काय !

सोच में उद्धव पड़े : क्या ठीक
ज्ञान की पीटा करूँ मैं लीक

या करूँ उद्‌घोष जो प्रत्यक्ष,—
सूक्ष्म का विस्तार सर्व-समक्ष ?

मैं सिखाऊँ राधिका को ज्ञान
या करूँ इस प्रणय का जयगान ?

वह कहूँ जो कह रहे हैं वेद
या स्वयं सीखूँ प्रणय-निर्वेद !

गुरु गए अपने करों से छूट;
ज्ञान-यष्टि गई अचानक टूट !

आर्द्र लोचन, स्विन्न भाल विशाल,
रागवञ्चित उर, कहाँ सुर-ताल !

किसलिए आए, कहा, हैं कौन,
मुखर मुख क्यों कर हुआ यों मौन !

सुन स-सम्भ्रम बाल-जाल सँभाल
वह उठी सिर पर मलिन पट डाल

हाथ जोड़ लिये झुकाकर माथ
नयन में जलकण, अधर स्मित साथ

तनिक तिर्यक् ग्रीव; भू पर दृष्टि,
मेघमाला-सी छिपाए वृष्टि !

विमन, क्षणभर भी न कौतुक-क्रान्त
वह शिशिर-ऋतु-यामिनी-सी शान्त !

न थी जिज्ञासा : कहाँ गोपाल,
स्मरण करते हैं किसी भी काल—

या हृदन्तर में चुभो कर शूल—
गए भूल ? खिले, झरे वनफूल !

विसुध विगत सुखाभ दुख से, लीन—
ऊँघता अन्तःसलिल में मीन !

गोपियों को था मिला बहुमान
अनधिकारी को पिलाया ज्ञान !

तोड़ डाले स्व-कर-गुम्फित तार,
दीन वीणा, छिने स्वर-शृंगार !

पोंछ परछाईं मिटा आकार,
एक व्याख्या दी जला : कर प्यार !

प्यार उड़ जाता सुरों के पार
पीर पीकर अमृत की-सी धार !

न उत्सुक आवेग है पहचान,
सहनशील उदार प्यार-प्रमाण !

विगत की आवृत्ति : उलटे सिन्धु
दे हिमालय को लवणजल बिन्दु !

मिल गईं अगली लकीरें आज—
अनगिनी, क्या आँसुओं को लाज !

उठ रही ऊँची घटाएँ थोप
शुष्क-शीर्ण विदीर्ण उर पर ओप !

थीं थिरकती उँगलियाँ, पद व्यग्र
पूरने को वेणु-रन्ध्र समग्र !

अनिश्चित-सी आस, अनियत प्यास,
उठी लपट, जला विफल विश्वास !

कीर्ति वात्याचक्र-सी निर्बाध—
घूमती थी, जो न पूजी साध···

दोष किसका ? छाँह-छद्म प्रकाश
था अपंग पड़ा, खड़े कुश-काँस !

एक सोता फूटता निःशब्द
शिलाखण्ड गिना करें ऋतु-अब्द !

कोठ मार गया कि साधी साँस
कहाँ ज्ञानानन्द, हृदय उदास !

तरसते थे कान सुनने बोल
शान्त सागर, पर तरंगें लोल

एक हठ ही : कुछ मिले सन्देश !
अपाथेय पथिक, असह पथ-क्लेश !

तभी सुमन-सुगन्ध-सी उस ठौर
आ गई ललिता मुखर-सिरमौर

दिया शून्य अनन्त को झकझोर :
ताकते उद्धव, उधर किस ओर ?

कृष्ण का बाना, बने कि अनन्य !
मोर-मुकुट कि वन्य कुक्कुट धन्य !

करे कुकुडू-कूँ, बखाने वेद
स्वेद पोंछे, पर न माने खेद !

ग्रन्थि झूठे गर्व की निष्काम
बुद्धि थोथी, ज्ञान झूठा नाम !

छल-कपट को नीलि कह निष्पाप
सलवटें गिनते कि सिर श्री-छाप !

चख लिये फल, उड़े चपल विहंग,
गुठलियाँ, छिलके,—इन्हें लें संग ?

पंख झड़ जाएँ कि डैने टूट···
गिरें; अपनी जाति में ही फूट !

चार पशु के, दो मनुज के पैर,
न नर+पशु से षट्पदों को वैर !

कहाँ कुसुम खिले, मिले मकरन्द !
बेसुरे भी गुनगुनाएँ छन्द !

कहें ऊधो, सुनो साधो, योग—
आँख मूँदो, स्वर्ग का सुख-भोग—

यहीं भोगो, स्वर्ग या अपवर्ग
मौन रह सहना प्रलय या सर्ग !

ज्ञान क्या अज्ञान का विस्तार ?
करें उद्धव विरज का उद्धार !

नाम के अनुरूप श्यामल रूप
धर्म का जल भरे गहरे कूप !

सुलग लगती जब विपिन में आग
भीरु खग-मृग भभर जाते भाग

है लगी ब्रज में विरह की आग
ढीठ ज्ञान अड़ा खड़ा सो-जाग !

आत्मविस्मृत, भूल कर अनुराग—
स्वजन-परिजन को अकारण त्याग,

भूल कर आत्मा जमा हिम-सार
वरण था हमने किया क्या प्यार ?

आँसुओं की धार कोई धार !
काट डाला किन्तु कूल-कगार !

एक सोता और फूटा आज
सत्य शाश्वत नियति देगी माँज

न यह परछाईं न शुद्ध प्रकाश
दे रहे उद्धव नवल विश्वास !

तर्जनी से कुछ किया संकेत :
कान में भर तरणिजा की रेत

न सुन उनकी, न कह निज क्लेश,
तज हमें जो जा बसे परदेश

माँगते उसके लिए सन्देश
लगी ठोकर, न लगने दे ठेस !

स्त्री-सुलभ लज्जा, कुलोचित मान,—
कर दिया किस वेदि पर बलिदान !

सुन मृगी-सी बाँसुरी की तान
कर दिए सुर को समर्पित प्राण

जब उड़ा मधुकर कमल-दल छोड़
केतकी की ओर, काँटे तोड़

तब रहा कहना किसे क्या शेष ?
शक्ति अति सामान्य, भक्ति विशेष !

किन्तु उद्धव का कठिन हठ देख
चरण-नख से रेणु पर सज रेख

वकुल-मुकुल समान आनन खोल
कहे ललिता से सुरभि-से बोल :

'जी रही जिनके दरस की आस
चरण के जिनके अमृत की प्यास

वह रहें सकुशल सुखी सब काल
जानते सबके हृदय का हाल !

सुन पुरस्कृत प्रीति से मृदुपूर्व
वचन-रचना का प्रवाह अपूर्व

शील-ज्ञान-प्रकाश, राग न द्वेष,
प्रियंवद प्रतिवस्तु का विश्लेष

रुक्मिणी का तेज अद्भुत शुद्ध
तमतमाया अर्द्ध निद्र-प्रबुद्ध

वृन्द-वृन्द विचार रसमय भाव
शबल होकर बने हेला-हाव

नहीं दृप्त न मत्सरी अनमोल
रुक्मिणी बोली परिस्थिति तोल !

बीत जाएँगे अनन्त बसन्त
इस कथा का नहीं दिखता अन्त

प्राण लहरे राधिका के पास
रेत तन पर मत उतर आकाश !

हरिअरी परछाइयाँ न उभार
रेख सूखी, वही उच्छल धार !

मैं गले तक भर चुकी, मत और—
उफन गंगा गगन की, इस ठौर !

अश्रु चुन-चुन भरी ममता-सीप
धन्य धीरज के उजलते दीप !

चाँदनी काजल चुराती, नैन
शिशिर कण से माँगते-से बैन।

उग-उमग जो डूब जाता चाव
माँगता न कलिन्दजा से नाव !

साँस, सन्नाटा न मन का तोड़
छन्द बनता है न अक्षर जोड़ !

नित नयी दीवार, उर शत खण्ड,
छोड़ते चढ़ता भृकुटि-कोदण्ड !

तैरती थी, पा गई अब थाह,
श्याम यमुना-जल न अतल-अथाह !

कृष्ण बोले : राधिका मर जाय
तुम्हें तनिक दया न उस पर हाय !

स्वर्णपुष्पा वल्लरी खिल म्लान—
निराधार कहाँ टिके ? पवमान—

है रहा झकझोरता तनु गात,
एक जाती, एक आती रात !

रुक्मिणी कुछ अनकहे कह वर्ण···
सुमन से ज्यों हो गईं नव पर्ण,

मुसकराई : दयासागर आप !
आप-सी ही राधिका निष्पाप !

बीच में लाते मुझे क्यों खींच ?
बेल बोई आँसुओं से सींच—

आपने; झटका दिया मुँह मोड़,
जन्म-जन्मान्तर रही वह जोड़—

सुदृढ़ कर सम्बन्ध-बन्धन-बोध,
आग सोने को रही है शोध !

दुःख आत्मा में भरे हैं आप,
क्लेश तन में राधिका के; शाप—

रही भोग अबोध समझ सकी न—
भूख तन की, प्यास मन की क्षीण—

कलानिधि की कला होती 'नित्य,
ज्ञान हो द्वादश भले आदित्य !

आप राधा से अधिक दयनीय,
वह अतुल, मन आपका तुलनीय !

हो रथी आत्मा, मनोरथ भग्न,
राधिका की बुद्धि प्रग्रह-लग्न !

आपकी अद्भुत कृपा अक्लान्त,
हो गई होगी कि रोकर शान्त !

आप भी धीरज धरें अधिराज,
अब कहीं जाना न होगा आज !

कृष्ण विह्वल,—देखती हो शूल !
गन्ध व्याकुल केतकी का फूल—

तुम्हें अविदित : "कुटिल मन का गान,
प्रखर स्वर, नश्वर, निपट निष्प्राण !

"संकुचित रहता छिपा बहुमूल्य—
कहीं गहरे, यही उसका मूल्य !

"प्रकट जिज्ञासा, न उत्तर गूढ़,
मुग्ध होते प्राप्य पाकर मूढ़ !

"वह अहह एकाकिनी अनिमेष,
आत्मसाक्षात्कारिणी का वेश !

अभय तम के उदय-लय से व्योम,
अमृत की स्रोतस्विनी का स्रोम !

"लालसा अन्धी, अतुल्य विपत्ति,
सर्व-अर्पण; त्याग तप सम्पत्ति !

"देख सन्ध्या सिमटती तरु-छाँह
सहमती : फैली तने की बाँह !

टहनियाँ धानी, गुलाबी धूप,
चिहुँकती फुनगी, सहेजूँ रूप ?

"जानती हो तुम नहीं निर्वेद,
खोलना पड़ता मुझे यह भेद :

नत नयन में भी तपन अविराम,
सघन पलकें नहीं छाया-घाम ?

न होता वह मेघ-डम्बर नित्य,
सर्वकाल न दहकता आदित्य ?

ग्रह-उपग्रह की करूँ क्या बात,
हर घड़ी सहना जिन्हें आघात !

दूर रहकर भी रहें हम पास
तुम न कर सकतीं कठिन अभ्यास !

अपरिचित होता कि मनचीता न
क्षणिक आकर्षण मधुर तीता न ?

सहम, झिझक करे विपन्न व्यतीत,
हार कर वह गया जीवन जीत !

अमर मर सकते अरूप, अनाम,
पर रहेगा राधिका का नाम !

हँस वसन्त मरा, मरा रो शीत,
किन्तु राधा वह अमर संगीत···

वेणु-रन्ध्रों से कढ़ा भर व्योम,
गया सिहर निसर्ग का प्रति रोम !

पोंछ काजल जगमगाए दीप
गीत-मोती ने तजी जब सीप !

गया ढार फुहार नभ उर खोल
इन्द्रधनु किसका टँगा जयदोल !

कहीं कोई छाँह जाती काँप,
राधिका की गूँजती पदचाप !

एक भी कलिका खिली बन-बाग,
गन्ध गाती राधिका का राग !

मिलन आधा, विरह आधा नाम,
क्या किसी का पूर्ण राधा नाम ?

रुक्मिणी की बंक भृकुटि निशंक :
आप राजा, नाम रटते रंक !

कर रहा क्या आपका सम्मान !
पास पत्नी के सपत्नी-गान ?

कृष्ण कूकेः वकी, वरटा-एक—
हों—कहाँ कि सवर्णता की टेक ?

लाभ-हानि विचारता जो व्यक्ति
प्रम करने की न उसमें शक्ति !

प्रम-माते उड़े जाते प्राण
पिया ब्रज ने गरल अमृत-समान !

रुक्मिणी, ऐश्वर्य की तुम देन;
प्रेम की श्री, और कुछ ब्रज में न !

प्रेम का जिसमें नहीं उन्माद
वह न पा सकता विरज का स्वाद !

देखते ही देखते हो क्रुद्ध
तुम लगीं करने अचानक युद्ध

कर रहीं अति निशित शर-सन्धान
दृप्त पौरुष का तुम्हें अभिमान

कर रहीं पीछा कि छाया मौन···
है तुम्हारी; पूछतीं तुम : कौन ?

पकड़ गरुड़ उड़ान में पर खींच
है मचाया बालुका पर कीच !

गृह-कलह दुःसह स्वजन से ठान,
था निबाहा ब्याह का अभिमान

दास दुःसाहस तुम्हारा क्रीत
मैं कभी तुमसे सकूँगा जीत ?

चैद्य, शाल्वज, दन्तमुख बलिहार,
मगधराज गिरा निमिष में हार !

स्त्रीजनोचित पर नहीं यह क्रौर्य !
पुरुष की पहचान पौरुष, शौर्य !

हो गए कैसे विधाता वाम,
पुरुष दक्षिण न रच, रच दीं वाम !

मैं कहूँगा तप करो कुछ काल,
जानना जो पुरुष-उर, सुर-चाल !

पुरुष को प्रिय सत्य-सदृश विनोद,
कहाँ कौतुक, कहाँ हिंसक क्रोध !

जो बहुरती ही नहीं निष्काम
राधिका वह ऋतु अरूप, अनाम ?

स्फुट कुमुदिनी गगन-गंगा-कूल
छू न पाती जिसे उठकर धूल

नहीं मँडलाते जिसे अलि घेर
पवन स्वन सुन बदन लेती फेर

मानवीय सहिष्णुता की डोर
खींच लेती कभी अपनी ओर

व्यस्त भू पर गिरि-शिखर एकान्त
राधिका सौगन्ध-धार प्रशान्त !

अनसुनी ध्वनि की अनोखी गीति
शब्द जिसका 'प्रीति', अर्थ 'प्रतीति' ?

कल्पना से जो झरी न मिठास
जो न अनुभव में धँसा विश्वास—

सुरधुनी उसकी, निरुत्सुक श्रोत,
राधिका न अमा, न चन्द्रोद्योत !

बह रही सरि निरुद्वेग, सलील
नति निवेदित, प्रणति सागर-शील !

राधिका कोई न नारी एक
भावना वह हृदयहारी एक

रक्त-मज्जा की नहीं वह देह
राधिका का अर्थ निश्चल नेह !

राधिका-स्मृति, ली समय ने थाम,
कामना का श्रेय, श्री निष्काम !

नभ सँभाले सूर्य-चन्द्र-प्रकाश,
राधिका ज्योतिर्वलय विश्वास !

कृष्ण की आत्मा प्रकट हो रूप धर कर वाम,
रुक्मिणी, क्या तुम रखो उसका न 'राधा' नाम !

स्वप्न में थी कर रही आनन्द का सन्धान ?
कण्टकित यह देह पुष्पोद्यान का था ध्यान ?

कब फटी बदली, पहाड़ उड़ा कि कुहरा, भाप ?
चन्द्र सूर्य हुआ, रही राधा प्रणय आलाप ?

एक झटका-सा लगा, कोई गया झकझोर,
रुक्मिणी ने पट झटक पोंछी पलक की कोर !

नींद, सुख, उत्तेजना की, दुख कि उचटी नींद,
तीक्ष्णतर संवेदना उर के सुरों को बींध···

रागमाला गूँथती; गहरा, भरा, सन्तोष;
स्वप्न में राधा दिखी, ज्यों-ज्योति-द्योतित ओस !
अज्ञता की वह न भीति, न विज्ञता का दम्भ;
क्षुब्ध-अब्धि-तरंग में निष्कम्प मणिमय स्तम्भ,
सेतु से उतरा हुआ-सा पार जीवन धन्य
गलित अन्तर्ज्वलित क्षार-तुषार सन्तति अन्य
हंसिनी सी पद्म छाया में सुखाती पाँख
हृदय अकुतोभय, नहीं वह भृंग भंगुर आँख !

रुक्मिणी परिणयेन गीयते
राधिका प्रणय रागमालिका
कोकिलेन सुरभेर्यथा व्यथा
निर्झरेण गिरिशृंगगौरवम्

वेद किं वेदनां सांगवेदो बलिं ?
निष्कृपं योऽर्पयत्येव देवं स्मरन्

कः पशुर्हन्ति ? केनाधिकारेण ? यो—
नान्तरं हन्त जानाति निःसत्त्वयो

पाण्डवा पाण्डवा कौरवा कौरवा
नापराद्धं सकृत्कैर्न ? के निर्मला ?

स्वच्छपक्षं तमस्तुल्यतायामपि
स्वेच्छया शंसति न्यस्तपक्षो जन !

सृजामि विसृजन् शश्वद्
वितनोमि च संहरन्'—

नाभिनन्दन्ति ताटस्थ्यं
लोका शोकार्णवं श्रिताः ।

गयामण्डलमध्यस्थ 'मैगरा' ग्रामवासिनः
वेद्यविद्वत्प्रकाण्डस्य रामानुग्रहशर्म्मणः

सूनुनाऽनुपमादेव्या विद्योद्द्योतितसंविदः
राधाराधनचित्तेन कृष्णवृत्तेन केनचित्

जानकीवल्लभेनास्य कृतस्य कविकर्मणः
मातापित्रो प्रसादेन द्रोणीभूतार्णवेदृशा

विनोदाख्यं प्रियाख्यानं पर्व पूर्णं चतुर्थकम्
सचेतसां समग्राणां हर्षोत्कर्षाय जायताम् ।

मातरम्प्रणिपातेन पितरञ्च सपर्यया
प्रत्यहं प्रीणयन् लोके प्राणिभिः प्राणिवत्सलः ।

निकृन्तन्नन्तरायाध्वकान्तारं शान्ततेजसा
लक्ष्यीकरोमि शिखरं मंगलाद्रे, नमोऽस्तु ते !
वलादीरित एवाहं विपथे पथि वा शुभे
अथान्तचरणोऽस्म्याप्त, चरैवेति गिरा तव !

कियच्चिरं दुःखमहार्णवेऽतटे
निमज्जदुन्मज्जदिदं मनश्चलम्
त्वमुद्दिधीर्षुस्स्वकरेण सस्पृहं
विपक्षवेगेन समक्षमेष्यसि ?